पन्द्रह वर्ष ज़ब्त रहने के बाद अन्तरिम सरकार
द्वारा प्रतिबंध हटाये जाने पर पुनर्मुद्रित

सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पंद्रह वर्ष जब्त
रहने के बाद
अन्तरिम सरकार
द्वारा पाबंदी
हटाये जाने पर
पुनः मुद्रित

सामाजिक कुरीतियां

[टाल्स्टाय की Social Evils and their Remedy का अनुवाद]

अनुवादक

श्री माधवप्रसाद मिश्र

१९४७

सस्ता साहित्य मंडल,

नई दिल्ली

प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली।

तीसरी बार : १९४७

मूल्य
सवा दो रुपये

मुद्रक—
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, १८-४७।

प्रकाशकीय

''सामाजिक कुरीतियां' का यह संस्करण सन् १९३२ के बाद १९४७ में—१५ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है; क्योंकि सन् १९३२ में अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार ने—राजद्रोहात्मक करार देकर इसे जब्त कर लिया था। अन्तरिम सरकार के स्थापित होने के बाद दिसंबर १९४६ में अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार ने वह जब्ती, हमारे लिखने पर, उठा ली। पंद्रह वर्ष के बाद भी, इस पुस्तक का नया संस्करण, आज के समय में पाठकोंको दिलचस्प और संग्रहणीय मालूम होगा, और आशा है पाठक. उत्साह से इसे अपनावेंगे।

—मंत्री

भूमिका

कुछ वर्ष हुए, पैरिस की एक प्रदर्शिनी में ईश्रान स्टिका नामक एक चित्रकार ने "बहिष्कृत टॉल्स्टॉय" नामक एक चित्र रक्खा था। उसमें यह बताया गया था कि प्रभु ईसा टॉल्स्टॉय को अपनी बाहों में संभाले हुए हैं और उनके मस्तक को चूम रहे हैं।

यदि महात्मा टॉल्स्टॉय के जीवन चरित्र पर सैकड़ों पृष्ठों की एक पुस्तक लिखी जाय तो वह भी उनके जीवनोद्देश्य और कार्य के विषय में हमें इतनी जानकारी नहीं दे सकती और कम-से-कम वह श्रद्धा तो कभी हमारे दिल में उत्पन्न नहीं कर सकती, जो इस चित्र की कल्पना-मात्र से हो जाती है। टॉल्स्टॉय, उनका शुद्ध हृदय, उनकी कार्य-शीलता और उनके विषय में ईसाई समाज तथा ईसा (जिसको ईसाई लोग परमात्मा का पुत्र मानते हैं) के भाव आदि सब एक छोटे से चित्र में चित्रकार ने दिखा दिये। वह पुरुष कितना महान होगा, जिसे स्वयं ईसा अपने हृदय से लगा कर उसके मस्तक को चूमते हों, और वे धर्माधिकारी भी कितने पतित होंगे, जिन्होंने ऐसे पुरुष को अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया ?

वास्तव में टॉल्स्टॉय की बुद्धि इतनी तलस्पर्शी थी, उनका हृदय इतना स्वच्छ था, और उनकी वाणी में ऐसी जबर्दस्त शक्ति थी कि वे तमाम सामाजिक बुराइयों की जड़ को खोद कर लोगों को खुले-से-खुले शब्दों में बता देते थे। वे इस बात की परवा नहीं करते थे कि बुराइयाँ किनसे सम्बन्ध रखती हैं। वह राजा हो या रंक, पापी हो या पोप,

सेठ-साहूकार हो या दरिद्री और स्त्री हो या पुरुष; वे स्पष्ट से स्पष्ट शब्दों में उसे खोल कर रख देते। उनके ग्रंथों और खुली चिट्ठियों को पढ़कर लोगों के दिल दहल जाते थे, पापियों के अन्तःकरण में भय का संचार हो जाता था, पेटार्थी धर्माधिकारियों का धर्म-ज्ञान और लम्बी-चौड़ी बातें काफूर हो जातीं और राजाओं के सिंहासन डांवाडोल हो जाते थे। वहां छल-कपट और चिकनी-चुपड़ी बातें नहीं थीं, बल्कि प्रेम और स्वार्थ-त्याग का निर्मल उपदेश था।

टॉल्स्टॉय एक पक्के सुधारक थे। उनका संपूर्ण जीवन (१८२८–१९१० ई०) ऐशोआराम और भोग-विलास का नहीं, एक सच्चे साधक का जागृत जीवन था। वे प्रतिक्षण सोचते और प्रयोग करते रहते थे। किसी बात के अच्छे और नीति-युक्त होने में उनके दिल में संदेह उत्पन्न होते ही वे उसकी तह तक जाते। रात में नींद उनके लिए हराम हो जाती। ग्रन्थ और सन्मित्रों को टटोलते और चिंता करते-करते पागल हो जाते थे। अपने जीवन की असंबद्धता और निरुद्देश्यता पर अनुताप करते-करते आत्महत्या तक के लिए वे उतारू हो जाते; पर किसी बात को अधूरी नहीं छोड़ते। अन्तरात्मा और दैनिक जीवन में असम्बद्धता को वे कभी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

और इसका परिणाम क्या हुआ? सत्तावाद, पूंजीवाद, सेनावाद धार्मिक संगठन और स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर उन्होंने अपने अद्भुत विचार प्रकाशित करके सारे यूरोप में एक स्पृहणीय क्रान्ति कर दी। इन विषयों पर लिखी हजारों पुस्तकों को व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण साबित कर दिया और मानव-जीवन के सरल सनातन नियमों को पुनः समाज के सामने रखकर उसे आनेवाले खतरों से सचेत कर दिया।

"आध्यात्मिक साम्यवाद" उनके जीवन, शिक्षायें और उपदेशों का निष्कर्ष है। उनका उपदेश यह नहीं था कि पूंजीपतियों और राजाओं को लूटकर उनकी सम्पत्ति गरीबों में बांट दो; यह तो निःसन्देह वे चाहते थे कि कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रक्खे। सारी सम्पत्ति राष्ट्र की हो।

परन्तु उनका ढंग जुदा था। रूस का वर्तमान साम्यवाद टॉल्स्टॉय का धार्मिक साम्यवाद नहीं, लेनिन का राजनैतिक साम्यवाद है। टॉल्स्टॉय का साम्यवाद रामराज्य होगा। जिसमें लोग दूसरे की सम्पत्ति को छीन कर अपने को उसके समान बनाने की चेष्टा नहीं करेंगे, बल्कि दूसरे की सुविधा और सुख का खयाल कर शुरू से ही सम्पत्ति का त्याग करेंगे और सम्मान भाव से रहने की कोशिश करेंगे। अर्थात् हिंसा नहीं, भ्रातृ-भाव-युक्त त्याग हमारे सामाजिक-जीवन का आचार-सूत्र हो।

टॉल्स्टॉय की रचनाओं को पढ़ते हुए वही उल्लास होता है जो किसी भारतीय ऋषि की वाणी को पढ़ते हुए होता है। टॉल्स्टॉय की शिक्षाओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का आधुनिक भाषा में जितना शक्तिशाली और विशद प्रतिपादन हमें मिलता है, उतना शायद ही किसी सुधारक की भाषा में हो।

इन सब बातों को देखते हुए, टॉल्स्टॉय के ग्रन्थों को पढ़ते हुए हमारे हृदय में एक अद्भुत आत्मीयता का भाव उमड़ता है। यदि यही ईसाई-धर्म का सार है तो हमारे वैदिक धर्म और इस क्रिश्चियानिटी में क्या अंतर रहा? सचमुच कोई अन्तर नहीं है। धर्म के मूलभूत तत्त्व सनातन हैं और समस्त मानव-जाति ही नहीं, परमात्मा की बनाई समस्त सजीव-निर्जीव सृष्टि के लिए भी वे एक हैं। जो भेद हमें दिखाई देता है वह तफसीलों का है जो देश, काल आदि के साथ-साथ बदलती रहती हैं।

टॉल्स्टॉय इन्हीं मूल-भूत तत्वों का अथवा सरल, सत्य सनातन नियमों का विवेचन करते हैं और भिन्न-भिन्न रीति से इसी बात को अपने पाठकों के चित्त पर अंकित करने का यत्न करते हैं कि मानव-जाति के कल्याण का उपाय इतना सरल नहीं होता, तो दीन-से-दीन और दरिद्री मनुष्य अपने दुःखों से निस्तार पाने की आशा कैसे कर सकता था?

हमारी सामाजिक मूर्च्छा भी यद्यपि है तो बहुविध, परन्तु उसके

टूटने का उपाय भी अत्यन्त सरल है। हम इस ग्रन्थ में उसी सरल उपाय को टॉल्स्टॉय की वाणी में भारतीय समाज के सामने उपस्थित करते हैं। भगवान सूर्यनारायण की तरह महापुरुषों की वाणी भी सार्वभौम होती है। आशा है हमारा समाज उनकी इन अमूल्य शिक्षाओं से अवश्य लाभ उठावेगा।

झखरवां (सीतापुर)

वैशाख सं० १९८५। 　　　　　　　　　माधवप्रसाद मिश्र

निर्देशिका

१. जमीन और मजूर ३-६६

१—मानव-समाज या पशुओं का झुण्ड

२—श्रम विभाग

३—मजूरों के प्रति

४—एक-मात्र उपाय

२. सरकारें ६७-१५०

१—समाज-सुधारकों से अपील

२—स्वदेश प्रेम और सरकार

३—साम्यवाद—राजकीय तथा धार्मिक

४—अराजकता

५—सुधार के तीन तरीके

३. धर्म १५१-१७४

१—धर्म का तत्त्व

२—प्रेम की परीक्षा

३—बुद्धि और प्रेम

४—चमत्कार और चमत्कार-कर्ता

४. युद्ध १७५-२०६

१—युद्ध के कारण

२—दो युद्ध

३—कोई फौज में भर्ती न हो

४—कुछ चुनी हुई बातें

५. स्त्री और पुरुष २०७-२३५

१—पत्रों और डायरियों से—

सामाजिक कुरीतियां

और

उनको दूर करने के उपाय

१—जमीन और मजूर

२—सरकारें

३—धर्म

४—युद्ध

५—स्त्री और पुरुष

जमीन और मजूर

१. मानव-समाज या पशुओं का झुण्ड
२. श्रम-विभाग
३. मजूरों के प्रति
४. एक मात्र उपाय

: १ :

मानव-समाज या पशुओं का झुण्ड ?

"मुझे सारा मनुष्य-समाज जानवरों के उस झुण्ड के समान—दिखाई दिया, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं और जो मजबूत तारों से घिरे हुए बाड़े के भीतर बंद हैं। बाड़े के बाहर हरी-हरी घास का सुन्दर चरागाह है, और बहुत-सी खाने-पीने की चीजें लगी हुई हैं; बाड़े के भीतर उन जानवरों के खाने भर को काफी घास नहीं है, और इस कारण जो-कुछ भी घास वहां है, उसको पाने के लिए वे जानवर अपने नुकीले तेज सींगों से एक-दूसरे को बड़ी बेरहमी के साथ मार रहे हैं और एक-दूसरे को अपने पैरों के तले कुंचल रहे हैं। मैंने देखा कि उन जानवरों का मालिक, जो एक अच्छे स्वभाव और समझ वाला आदमी था, उनके पास आया। उनकी हालत देखकर वह बड़ा हैरान हुआ, और सोचने लगा कि उनकी हालत को सुधारने के लिए कौन से उपाय काम में लाये जा सकते हैं। उसने सुन्दर, खूब हवादार और नालीदार गोशालाएँ बनवा दीं, जिससे रात में रहने के लिए जानवरों को सुभीता हो जाय। उसने उनके सींगों के सिरे मढ़वा दिए; जिसमें वे अपनी जान बचाने की कोशिश में एक दूसरे को अधिक निर्दयता के साथ मार न सकें। उसने उस बाड़े का एक हिस्सा बूढ़े बैलों और गायों के लिए अलग कर दिया, इसलिए कि अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनों में उन्हें पेट का गढ़ा भरने के लिए ज्यादा मिहनत न करनी पड़े और वे जीते रहने भर को काफी घास पा सकें।

इधर बछड़े दूसरे जानवरों से सताये जा रहे थे। कुछ भूख के मारे तड़प-तड़पकर मर रहे थे और इसलिए इस योग्य नहीं थे कि बढ़कर आगे चलें और कुछ काम दे सकें। इसलिए उसने यह इन्तजाम किया कि उन्हें रोज सबेरे पीने को थोड़ा-सा दूध मिल जाया करे। हां, किसी को भी काफी दूध नहीं मिलता था, तो भी उन सभी को इतना-इतना दूध जरूर मिल सकता था कि वे जीवित रह सकें। वास्तव में उन पशुओं के स्वामी ने उनकी दशा सुधारने के लिए जो कुछ भी वह कर सका, किया; परन्तु जब मैंने उससे पूछा कि आप एक सीधी-सी बात क्यों नहीं करते, इस जंगले को हटाकर इन पशुओं को इसके बाहर क्यों नहीं निकाल देते, जिससे वे मनमानी घास खा सकें और अपनी इच्छानुसार इधर-उधर घूम सकें, तो उसने उत्तर दिया—"यदि मैं ऐसा करूं तो उनका दूध मैं कदापि नहीं दुह सकता।"

: २ :

श्रम-विभाग

मनुष्य चाहे जहां और चाहे किसी अवस्था में भी रहे, उसका घर तथा उसके महल की ऊंची अट्टालिकाएं आप-से-आप नहीं बन जातीं; उसके चूल्हे में ईंधन आप-से-आप नहीं पहुँच जाता; पानी भी आप-से-आप नहीं आ जाता; और उसके खाने के लिए बना हुआ भोजन आसमान से नहीं टपकता। उसका भोजन, उसके वस्त्र तथा उसके जूते आदि—ये सारी चीजें पहले के लोगों ने ही तैयार नहीं की हैं, बल्कि इस समय भी वे आदमी तैयार कर रहे हैं, जो रात-दिन अधिक परिश्रम करने पर भी अपने-आपको तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों को यातनाओं एवं भूखों मरने से बचाने के लिए काफी भोजन और वस्त्र तथा रहने का स्थान नहीं पाते, जो रोज सैकड़ों और हजारों की संख्या में मरते और मिटते चले जा रहे हैं।

सब मनुष्य दरिद्रता के चंगुल में फंसे हुए हैं। उन्हें अपनी जीविका-उपार्जन के लिए इतना कठिन परिश्रम करना पड़ता है और इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है कि उनकी आंखों के सामने उनके माता-पिता, भाई-बहन तथा बच्चे भूख और दरिद्रता से उत्पन्न होने वाले रोगों के मारे मरते चले जाते हैं। उनकी दशा एक टूटे हुए, अथवा समुद्र में पड़े हुए जहाज पर के आदमियों के समान है, जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा है। ईश्वर अथवा प्रकृति ने ही सभी मनुष्यों को ऐसा बना दिया है कि वे

अपनी जीविका का आप उपार्जन करें और जीवन की आवश्यकताओं के साथ निरंतर संग्राम करते रहें। अतः हमारे इस काम में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करना अथवा दूसरों से ऐसा परिश्रम लेना कि जिसका सार्वजनिक हित के लिए कोई उपयोग नहीं है, उनके तथा हमारे लिए एक समान घातक है। तो फिर क्या कारण है कि अधिकांश पढ़े-लिखे खुद तो कुछ भी परिश्रम नहीं करते, और उलटे शांति के साथ दूसरों से परिश्रम लेते चले जाते हैं? यदि उन बेचारों से यह फिजूल परिश्रम न लिया जाय तो वे अपनी आजीविका के लिए कोई उपयोगी काम तो करें। फिर पढ़े-लिखे लोग ऐसे जीवन को स्वाभाविक और उचित क्यों समझते हैं?

एक ऐसे जूते बनाने वाले मोची को देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होगा, जो समझता है कि लोग उसे भोजन देने के लिए बाध्य हैं। क्यों? इसलिए कि वह जूते बना रहा है, जिनके लिए उससे किसी ने भी फर्मायश नहीं की थी। पर हम उन सरकारी मुलाजिमों, धर्माधिकारियों या शिल्प एवं विज्ञान-सम्बन्धी कार्य करने वाले आदमियों के सम्बन्ध में क्या कहेंगे, जो कोई ऐसी बात नहीं करते जो सर्व-साधारण के लाभ की हो? नहीं—बल्कि जिनके काम की किसी को भी आवश्यकता नहीं है, फिर भी जो बड़े साहस के साथ समाज से श्रम-विभाग के नाम पर अच्छा भोजन और अच्छे वस्त्र चाहते हैं?

हां, हम मानते हैं कि श्रम-विभाग वास्तव में हमेशा से चला आ रहा है। परन्तु वह विभाग ठीक तभी समझा जायगा, जब मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि और शुद्ध अन्तःकरण से इस बात का निर्णय करें कि यह श्रम-विभाग किस प्रकार किया जाना चाहिए। यदि सभी मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से काम लें, तो इस प्रश्न का निबटारा बड़ी सरलता और निश्चय के साथ हो सकता है। यह श्रम-विभाग सच्चा तभी माना जा सकता है, जब किसी मनुष्य के कार्य को दूसरे लोग अपने लिए इतना आवश्यक समझें कि वे उससे वह काम करने के लिए

कहें और इस सम्बन्ध में उनके लिए जो कुछ भी वह करे; उसके बदले में वे अपनी इच्छा से उसे भोजन, वस्त्र आदि देने का भार अपने ऊपर ले लें। परन्तु ख्याल कीजिए एक आदमी अपनी बाल्यावस्था से लेकर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की ही कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता रहा, और यह वादे करता रहा कि मैं किसी समय कोई बहुत ही उपयोगी काम कर दिखाऊंगा, जिसके लिए उससे किसी ने कभी कहा भी नहीं है—खैर, वह अपना विद्याध्ययन भी समाप्त कर चुकता है। पर इसके बाद भी वह अपनी बाकी जिन्दगी उसी प्रकार बिता रहा है—हां, और बराबर वादे करता चला जाता है कि मैं शीघ्र ही कोई अच्छा काम करूंगा। भला बताइए, यह भी कोई श्रम-विभाग है? यह तो वस्तुतः बलवानों द्वारा निर्बलों के परिश्रम का अनुचित उपभोग करना है, जिसे दैव-वादियों ने 'भाग्य', दार्शनिकों ने 'जीवन की अनिवार्य अवस्था' तथा आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों ने 'श्रम-विभाग' की उपाधि दे रखी है। श्रम-विभाग मानव-समाज में सदैव से रहा है, और मैं साहस के साथ कह सकता हूँ, सदैव रहेगा भी। परन्तु हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि यह हमेशा से रहा है और भविष्य में भी हमेशा रहेगा। बल्कि वास्तविक प्रश्न यह है कि इस श्रम-विभाग को उचित श्रम-विभाग का रूप किस प्रकार दिया जा सकता है।

श्रम-विभाग तो है। "देखिये न, कुछ लोग मानसिक श्रम कर रहे हैं, कुछ आध्यात्मिक परिश्रम में लगे हुए हैं और कुछ मनुष्य शारीरिक परिश्रम करने में व्यस्त हैं।" मनुष्य किस विश्वास के साथ कहते हैं! उन्हें यह विचार सुखद मालूम होता है इसलिए उन्हें इस व्यवस्था में अपनी सेवाओं का उचित परिवर्तन दिखाई देता है, जो वास्तव में प्राचीन समय से होता आया भीषण अत्याचार है।

"तू अथवा तुम"—क्योंकि प्रायः बहु-संख्यक लोग ही एक की सेवा किया करते हैं—"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे लिए वह सब मोटा काम करो, जो करने के लिए मैं तुमसे कहूं और जिसके

करने का तुम्हें अपने बचपन से अभ्यास रहा है, और इसके बदले मैं तुम्हारे लिए दिमागी काम करूँगा, जिसके करने का पहले से मुझे अभ्यास रहा है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं इसके बदले तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूंगा।"

यह कथन बिलकुल ही उचित जान पड़ता है और वास्तव में यह उचित ही होता, यदि सेवाओं का यह परिवर्तन स्वतन्त्र रूप से किया गया परिवर्तन होता; यदि वे लोग, जो शरीर के भोजन से हमारी तृप्ति करते हैं, आध्यात्मिक भोजन पाने के लिए शारीरिक भोजन देने को बाध्य न होते। आध्यात्मिक भोजन तैयार करने वाला मनुष्य कहता है,—"इसलिए कि मैं तुम्हें यह मानसिक भोजन देने में समर्थ हो सकूं, तुम्हें चाहिए कि मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे घर की सफाई करो।"

परन्तु शारीरिक भोजन तैयार करने वाले मनुष्य को, अपनी ओर से बिना कोई मांग पेश किये, यह सब कुछ करना पड़ेगा। उसे शारीरिक भोजन देना ही पड़ेगा, चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि यह परिवर्तन, स्वतन्त्र-ऐच्छिक रूप से किया गया होता, तो दोनों ओर की शर्तें समान होतीं। हम यह मानते हैं कि मनुष्य के लिए मानसिक भोजन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि शारीरिक भोजन की। एक विद्वान् आदमी अथवा शिल्पकार कहता है, 'इसके पहले कि हम भोजन देकर लोगों की सेवा करना आरम्भ करें, हम चाहतें हैं कि वे शारीरिक भोजन से हमें तृप्त करें।'

परन्तु शारीरिक भोजन देने वाले भी यह क्यों न कहें—"इसके पहले कि शारीरिक भोजन देकर हम तुम्हारी तृप्ति कर सकें, हमें आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता है; और जब तक हमको वह न मिल जायगा, हम परिश्रम नहीं कर सकेंगे।"

आप कहते हैं—"जो आध्यात्मिक भोजन (Spiritual Food) लोगों को देना है, उसके तैयार करने के लिए मुझे एक किसान, एक

लोहार, एक जूता बनाने वाला चमार,एक बढ़ई, राज तथा दूसरे लोगों की जरूरत है।"

और मजूर भी यह कह सकता है—"तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए परिश्रम करने के पहले मुझे ऐसी शिक्षा चाहिए, जो मेरी आत्मा को बलवान बना दे। परिश्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसलिए मुझे धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है; यह जानने की आवश्यकता है कि समाज में मनुष्य का क्या स्थान है; श्रम के साथ बुद्धि का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। मुझे उस आनन्द और सुख की भी जरूरत है,जो ललित कला से प्राप्त होता है। मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं है कि जीवन का अर्थ क्या है। कृपया मुझे ये सब बातें बतलाइए।"

"मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं है कि सार्वजनिक जीवन के नियम क्या हैं, जिनसे न्याय की रक्षा की जा सके; मुझे यह बतलाइए। मेरे पास यन्त्र-विद्या, प्रकृति-दर्शन, रसायन-शास्त्र आदि का अध्ययन करने के लिए भी समय नहीं है। मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए, जिनसे मुझे यह मालूम हो सके कि मुझे अपने औजारों में,काम करने के ढंग में, अपने रहने के घरों में तथा उनमें गर्मी और रोशनी पहुंचाने आदि कामों में किस प्रकार सुधार करना चाहिए। मेरे पास इस बात के लिए भी समय नहीं है कि मैं काव्य-शास्त्र, चित्र-विद्या तथा संगीत-विद्या का भी अध्ययन कर सकूं। मुझे आह्लाद और आनंद की वह सामग्री दीजिए, जिसकी जीवन के लिए परमावश्यकता है।"

आप कहते हैं कि "हमारे लिए वह उपयोगी तथा आवश्यक कार्य करना असम्भव होगा, अगर हम उन बातों से वंचित रखे जायंगे जो श्रम-जीवी लोग हमारे लिए करते हैं; परन्तु मैं कहता हूँ कि एक मजूर भी यह कह सकता है कि, यदि मुझे धार्मिक पथ-प्रदर्शन न मिला, जो मेरी बुद्धि तथा अन्तःकरण को आवश्यक है; यदि मुझे एक न्याय-परायण सरकार न मिली, जो मेरे परिश्रम की रक्षा कर सके; यदि मुझे

यह शिक्षा नहीं मिलती, जिससे मैं अपने काम को आसान बना सकूं; तथा यदि में ललित-कला के उपयोग से भी वंचित रखा गया, तो मैं खेत जोतना,तथा शहर की सफाई करना आदि उपयोगी तथा आवश्यक कार्य भी—जो आपके कार्य से कम उपयोगी और आवश्यक नहीं हैं—न कर सकूंगा। आपने अभी तक मानसिक भोजन के रूप में जो कुछ भी मेरी भेंट किया है, वह मेरे लिए सर्वथा व्यर्थ है; बल्कि मैं यह भी नहीं समझ सका कि इससे किसी को लाभ पहुंच सकता है अथवा नहीं और जब तक मुझे यह खुराक न मिल जायगी,·जिसका मिलना मेरे लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि दूसरों के लिए, तब तक मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन नहीं तैयार कर सकता।"

क्या हो, अगर मजूर लोग ऐसा कहने लग जायं ? और अगर वे कहें, तो यह हंसी (मज़ाक) नहीं बल्कि सीधी-सादी न्याय की बात होगी। यदि एक श्रमजीवी ऐसा कहे, तो बौद्धिक परिश्रम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा उसकी यह बात कहीं अधिक न्यायोचित और ठीक होगी; क्योंकि बुद्धि-सम्बन्धी काम करने वाले मनुष्य के परिश्रम की अपेक्षा श्रमजीवी मनुष्य का परिश्रम अधिक आवश्यक और उपयोगी है। फिर एक बुद्धि वाले मनुष्य के मार्ग में औरों को वह मानसिक भोजन देने में कोई रुकावट नहीं, जिसके देने का उसने वादा किया है; किन्तु श्रमजीवी मनुष्य तो शारीरिक भोजन इसलिए नहीं दे सकता कि खुद उसके पास भोजन की कमी रहती है।

तो फिर, हम मानसिक परिश्रम करने वाले मनुष्य क्या उत्तर देंगे; यदि हमारे सामने ऐसी सीधी-सादी और न्यायोचित मांगें पेश कर दी जायं। हम इन लोगों की कैसे पूर्ति करेंगे ? हम यह भी नहीं जानते कि श्रम-जीवियों को किन बातों की आवश्यकता है। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों, उनके भाव और उनकी भाषा को भी भूल गये हैं। हम तो ऐसे अंधे हो गये हैं कि हमने अपने उस कर्तव्य को भी भुला दिया, जो हमने अपने ऊपर ले लिया है। हमें पता नहीं कि यह

परिश्रम हम किसलिए करते हैं, और जिन लोगों की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया है, उनको हमने अपनी वैज्ञानिक एवं कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का एक लक्ष्य-मात्र बना लिया है। हम अपने अंदर और मन-बहलाव के लिए उनका अध्ययन और उनकी गरीबी का वर्णन करते हैं। हम इस बात को बिलकुल भूल गये हैं कि हमारा कर्त्तव्य यह नहीं कि उनका अध्ययन करें और उनकी दशा पर लम्बे-चौड़े लेख लिखें, बल्कि यह है कि हम उनकी सेवा करें।

अब समय है कि हम सचेत हों, और अपनी दशा पर और भी सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें। हमारी दशा ठीक उन धर्माधिकारियों के समान है, जो ईश्वर के साम्राज्य की कुञ्जी तो अपने हाथ में लिये हुए हैं, पर जो न तो खुद अन्दर घुसते हैं, और न दूसरों को घुसने देते हैं।

हम अपने भाइयों की जिन्दगी को खा रहे हैं और तिस पर भी अपने आपको सच्चे, धर्मनिष्ठ, दयालु, शिक्षित और पूर्ण पुण्यवान मनुष्य समझते हैं!

: ३ :

मजूरों के प्रति

"Ye shall know the truth and the truth shall make you free" —Jhon VIII-32.

"तुम सत्य को पहचानो वही तुम्हें मुक्त करेगा" जॉन-अ० ८-३२.

मेरे जीवन के अब अधिक दिन शेष नहीं हैं, और मरने के पहले, श्रम-जीवियों, मैं तुम्हें वे सारी बातें, जो मैंने तुम्हारी इस दलितावस्था के सम्बन्ध में सोची हैं, और सभी उपाय जिनसे तुम अपने आपको इससे मुक्त कर सकते हो, बतला देना चाहता हूँ।

सम्भवतः, मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी सोचा है (और मैंने इस विषय में बहुत-कुछ सोचा है) और अब भी जो सोच रहा हूँ, वह तुम्हारे लिए हितकर सिद्ध हो।

जैसा कि स्वाभाविक है, मैं ये बातें रूस के श्रम-जीवियों को ही सम्बोधन करके कहता हूँ। उनके बीच में रहता हूँ, और उनको मैं दूसरे देशों में श्रम-जीवियों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से जानता हूँ। पर मुझे आशा है, मेरे कुछ विचार दूसरे देशों के श्रम-जीवियों के लिए भी व्यर्थ सिद्ध न होंगे।

श्रम-जीवियो, तुम अपनी सारी जिन्दगी दुःख-दारिद्र्य एवं कठिन परिश्रम में, जिसकी तुम्हारे लिए बिलकुल आवश्यकता नहीं है, बिताने के लिए मजबूर किये जाते हो, और दूसरे लोग जो कि ज़रा भी काम नहीं करते, तुम्हारी पैदा की हुई चीजों से फायदा उठाते हैं, और तुम

उनके दास होकर रहते हो, पर यह बात अब प्रायः सभी सहृदय और समझदार मनुष्यों पर विदित हो गई है कि वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इस दशा को दूर करने का उपाय क्या है ?

पहला उपाय तो यह है, जो पुराने जमाने से बिलकुल सीधा और स्वाभाविक मालूम होता आया है कि जो लोग तुम्हारे परिश्रम से अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबरदस्ती छीन लिया जाय। यही बात प्राचीन समय में रोम के गुलामों ने और मध्यकालीन युग में जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने की थी। स्टेंकारेज़िन तथा बोगैको के समय में रूस के निवासियों ने भी इसी उपाय का अवलम्बन किया था। इस समय भी कभी-कभी रूसी श्रमजीवी यही किया करते हैं।

दुःखित श्रमजीवी-समाज को दूसरे उपायों की अपेक्षा, यह उपाय सरल जरूर दिखाई देता है। पर तो भी इससे कभी उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी। नहीं, बल्कि इससे तो उलटा उनकी दशा सुधरने की अपेक्षा और भी बिगड़ती चली जाती है। पुराने जमाने में, जब सरकारें आज की तरह शक्तिशालिनी नहीं थीं, ऐसी क्रांतियों से विजय की आशा की जा सकती थी। परन्तु इस समय तो, जब कि उनके हाथ में बड़े-बड़े खजाने, रेल, तार, पुलिस, फौज और सिपाही हैं, ऐसी क्रान्तियों का परिणाम, प्रायः यही हुआ करता है कि उपद्रव करने वालों को नाना-प्रकार के दण्ड और यातनायें भोगनी पड़ती हैं और वे फांसी तक पर चढ़ा दिये जाते हैं। नतीजा यह निकलता है कि श्रम-जीवियों पर दूसरों की सत्ता और भी मजबूती के साथ जम जाती है।

श्रम-जीवियो, हिंसा का मुकाबला हिंसा से करके, तुम वही कर रहे हो, जो मजबूत रस्सों में बँधा हुआ मनुष्य भागने के अभिप्रायः से उन्हीं रस्सों को पकड़कर खींचा करता है, जिनसे कि उसका सारा शरीर जकड़ा हुआ है। इससे तो उसके बन्धन की गांठें और भी अधिक कस जायंगी!

बल-प्रयोग द्वारा छीनी हुई वस्तु को फिर से लेने के लिए बल का प्रयोग करना भी उसी के समान है।

(२)

यह बात अब प्रायः सभी पर विदित हो गई है कि इन उपद्रवों से हमारे उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होगी। इससे सुधरने की अपेक्षा श्रम-जीवियों की अवस्था और भी बिगड़ जाती है। इसलिए श्रमजीवी-समाज के हित-चिन्तकों ने अथवा उनके हित-चिन्तक होने का दावा करने वालों ने अभी हाल में श्रम-जीवियों को स्वतंत्र करने के लिए एक नये उपाय का आविष्कार किया है। इस उपाय का मुख्य आधार यह शिक्षा है— "जिस जमीन के वे किसी समय मालिक थे, उसे छोड़कर वे कारखानों में मज़दूरी पर काम करने लगें। (और इस शिक्षा के अनुसार यह ऐसा ही अनिवार्य हैं, जैसा कि किसी नियत समय के ऊपर सूर्योदय का होना) फिर संघों और सभाओं की स्थापना करके और पार्लमेण्ट में अपने प्रतिनिधि भेजकर क्रमशः अपनी दशा सुधारते रहें और अन्त में समस्त कल-कारखानों और मिलों के, बल्कि पैदावार के सम्पूर्ण साधनों के, जिनमें जमीन भी शामिल है, मालिक बन बैठें; इससे बिलकुल स्वतन्त्र और सुखी हो जायंगे। यद्यपि जिस शिक्षा के आधार पर इस उपाय का आविष्कार हुआ है, वह अन्धकारमय, क्षणिक विजय दिलाने वाली अस्थायी तजवीजों तथा विरोधी बातों से भरी हुई और बिलकुल मूर्खता-पूर्ण है, तो भी इधर कुछ दिनों से इसका बड़ा प्रचार हो रहा है।

इस शिक्षा को केवल उन देशों ने ही नहीं अपनाया है, जिनमें अधिकांश जन-समुदाय ने पीढ़ियों से खेती छोड़ दी है, किन्तु उन देशों ने भी उसे मान लिया है, जिनमें मजूर-वर्ग ने जमीन छोड़ देने के सम्बन्ध में अभी विचार भी नहीं किया है।

इस शिक्षा का पहला उद्देश्य यह है कि गावों में रहने वाले श्रम-जीवी, अपने खेती-सम्बन्धी नाना प्रकार के कामों को छोड़कर, जिनके करने का उन्हें अभ्यास हो गया है और जो स्वास्थ्य तथा सुख देने वाले

हैं, एक ही प्रकार के और हैरान कर देने वाले अस्वास्थ्यकर, कुत्सित तथा हानिकर कामों में लग जायं। इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि एक ग्रामीण अपनी उस प्यारी स्वतंत्रता को छोड़कर; जिसमें कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ही परिश्रम से कर लेता है— कारखानों में काम करने वाले श्रम-जीवियों का परतन्त्र जीवन बिताने लगे, और हर बात में अपने मालिक के आधीन हो जाय। जरा गौर करने पर मालूम होगा कि ऐसी शिक्षा को उन देशों में किसी प्रकार की कोई सफलता नहीं मिलनी चाहिए, न मिल सकती, जहां के अधिकांश श्रमजीवी अब भी अपना पेट खेती से पालते हैं।

लेकिन इस शिक्षा का, जो कि साम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है, रूस जैसे देशों में भी,जहां पर ६८ प्रतिशत श्रम-जीवी-समाज की जीविका का साधन खेती है, उन दो प्रतिशत मनुष्यों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया है, जिन्होंने खेती को छोड़ दिया है।

इसका कारण क्या है ? यह कि मजूर आदमी खेती को छोड़कर, उन प्रलोभनों के चंगुल में फंस जाता है, जो शहर और कारखानों के जीवन के साथ लगे हुए हैं। और उसके इन प्रलोभनों का समर्थन साम्यवादियों की शिक्षा से हो जाता है, जो आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य की उन्नति का एक चिन्ह समझती है।

ऐसे मजूर लोग साम्यवाद की इस शिक्षा की अधूरी बातों को लेकर बड़े जोश के साथ उसका अपने संगी-साथियों में प्रचार करते हैं और इस प्रचार तथा इन नवीन आवश्यकताओं के कारण, जिनको कि उन्होंने बिना प्रयोजन पैदा कर लिया है, अपने आपको उन्नतिशील सुधारक समझने लगते हैं और गांव के सीधी-सादी जिन्दगी बसर करने वाले किसानों से अपने आपको कहीं ज्यादा हैसियत और दर्जेवाला गिनने लग जाते हैं। सौभाग्य से रूस में ऐसे श्रमजीवियों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है। रूस के अधिकांश श्रम-जीवियों ने तो साम्य-

वादियों की इस शिक्षा का कभी नाम तक नहीं सुना है[1] और यदि इस सम्बन्ध में कोई बात वे सुनें भी तो इस शिक्षा को अपने लिए एक बिलकुल नई और अनावश्यक बात समझते हैं। जिसका उनकी सच्ची जरूरतों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यूनियन कायम करना, जुलूस निकालना, पार्लमेण्ट में अपने प्रतिनिधि भेजना आदि साम्यवादियों की इन सारी बातों से, जिनकी सहायता से कारखानों में काम करनेवाले श्रम-जीवी अपने इस दास-जीवन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने वाले ग्रामीण श्रम-जीवियों को कोई भी दिलचस्पी नहीं।

गांव के मजूरों को इस बात की जरूरत नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाय या उनके काम करने के घंटे कम कर दिये जायं अथवा सहयोगी संस्थाएं खोली जायं, बल्कि उनके लिए सबसे जरूरी है एक चीज——जमीन! जमीन सभी जगह उनके पास इतनी कम है कि उससे वे अपने कुटुम्ब का पेट भी नहीं भर सकते। परन्तु इसके सम्बन्ध में, जिसकी गांवों के लोगों को सबसे ज्यादा जरूरत है, साम्यवादियों की ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

विद्वान् साम्यवादी कहते हैं——"झगड़े की खास चीजें हैं खानें, कल-कारखाने और इसके बाद जमीन।" वे कहते हैं कि, मजूरों को चाहिए कि जमीनें लेने के लिए पहले वे मिलों और कारखानों पर अधिकार प्राप्त करें और इस तरह पूंजीपतियों पर विजय पा लेने के बाद जब ये सब चीजें उनके हाथों में आ जायंगी, तब वे जमीन पर भी अपना अधिकार कर सकेंगे। आश्चर्य यह है कि लोगों को तो जमीन की जरूरत है, परन्तु उनसे कहा यह जाता है कि उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें पहले उसे छोड़ देना होगा, इसके बाद एक बहुत ही पेचीदा ढंग से, जिसका आविष्कार साम्यवाद का दम भरनेवाले महापुरुषों ने ही किया है, मिलों और कारखानों के सहित जिनकी बेचारे मजूरों को

१ ये बातें रूसी क्रान्ति के पहले की हैं; समय-चक्र ने इन्हें असत्य सिद्ध कर दिया है। ——सम्पादक।

बिलकुल आवश्यकता नहीं है, उसे वे फिर प्राप्त कर लेंगे। यह तो वही ढंग हुआ जैसा कि कुछ सूदखोर महाजन किया करते हैं। आप एक महाजन से एक हजार रुपये मांगते हैं, सिर्फ एक हजार रुपये की जरूरत है, लेकिन महाजन आपसे कहता है,—"मैं आपको सिर्फ एक ही हजार रुपये नहीं दूंगा, आप पांच हजार रुपये लीजिए, जिनमें से चार हजार के साबुन के टुकड़े, रेशमी कपड़ा और बहुत-सी चीजें होंगी।' यद्यपि आपको तो इनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है, फिर भी वह तो आपको एक हजार रुपये इसी शर्त पर दे सकता है। यह साम्यवादियों की दलील भी ठीक ऐसी ही है।

साम्यवादी लोगों ने बिलकुल ही गलत तौर पर यह तय कर रखा है कि जमीन परिश्रम करने का वैसा ही साधन है, जैसे कि मिल अथवा कारखाने, और श्रम-जीवियों को, जो केवल जमीन न होने के कारण ही कष्ट उठा रहे हैं, यह सलाह देते हैं कि वे अपनी जमीनों को छोड़ दें, और उन कारखानों पर कब्जा करने में लग जायं, जिनमें तोप, बन्दूक, इत्र-तेल, साबुन, शीशे-फीते और हर प्रकार की विलासिता की सामग्री तैयार की जाती है। कारखानों पर अधिकार कर चुकने के बाद जब मजूर शीशा अथवा फीता आदि वस्तुएं शीघ्रता और उत्तमता के साथ बनाना सीख चुके होंगे और जमीन के जोतने-खोदने और उस पर काम करने के बिलकुल अयोग्य हो गये होंगे—तब उन्हें जमीन पर भी कब्जा करने को कहा जाता है।

(३)

खेती करना और उससे अपना पेट भरना सुखमय और स्वतन्त्र मनुष्य-जीवन की एक मुख्य शर्त रही है और भविष्य में भी हमेशा रहेगी। यह बात सभी लोग सर्वत्र जानते हैं और इसलिए सभी मनुष्य किसी ऐसे जीवन के लिए हमेशा प्रयत्न करते हैं और आगे भी करते ही रहेंगे, जैसे कि पानी में जाने के लिए मछली किया करती है।

परन्तु साम्यवादियों का कहना है कि मनुष्यों का जीवन सुखमय

बनाने के लिए उन्हें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वे जंगलों और पशुओं के बीच में रहें, जहां पर लोग लगभग अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति खेतों में काम करके ही कर सकते हैं। उनके खयाल से तो लोग ऐसे स्थानों में रहना चाहते हैं, जो उद्योग-धन्धों और कारीगरी के केन्द्र-स्थान हैं, जहां का वायु बहुत ही दूषित है और लोगों की जरूरतें दिन-पर-दिन बढ़ती ही रहती हैं, और जिनकी पूर्ति कारखानों में रात-दिन, शक्ति से अधिक, काम करके ही की जा सकती है। कारखानों के इस जीवन में फंसे हुए बेचारे मजूर भी इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और यह समझकर कि वे कोई बहुत बड़ा और जरूरी काम कर रहे हैं,अपनी सारी शक्ति पूंजीपतियों के साथ इस बात की लड़ाई लड़ने में लगा देते हैं कि उनके काम करने के घंटे घटा दिये जायं और मजदूरी बढ़ा दी जाय,जब कि वास्तव में,जमीन से अलग कर दिये गये मजूरों के लिए सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि वे किसी प्रकार ऐसे उपाय की खोज करें, जिससे फिर जमीन प्राप्त करके खेती कर सकें और प्रकृति के बीच आनन्दमय नैसर्गिक जीवन व्यतीत कर सकें। उन्हें अपनी सारी शक्ति इसी बात में लगा देनी चाहिए। साम्यवादी कहते हैं—"अगर यह बात सच भी हो कि प्रकृति की गोद में रहना कल-कारखानों के जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा है, तो भी कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की संख्या इस समय इतनी बढ़ गई है और कृषक-जीवन से अलग हुए उनको इतना समय होगया है कि अब कृषक-जीवन में वापस आना उनके लिए बिलकुल सम्भव ही नहीं है। यह असम्भव इसलिए है कि इस प्रकार शहराती जीवन से देहाती जीवन को लौट आने से व्यर्थ ही उन चीजों की पैदायश कम हो जायगी, जो इन कारखानों में तैयार की जाती हैं और जो राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक अङ्ग है और यदि मान लिया जाय कि ऐसा न भी हो तो भी अब जमीन इतनी काफी कहां है, जिससे कारखानों में काम करने वाले सभी आदमियों का आराम के साथ भरण-पोषण हो सके?"

पर यह बात गलत है कि कारखानों में काम करने वाले आदमियों के फिर से गांवों में लौटने और खेती में लग जाने से राष्ट्र की सम्पत्ति घट जायगी। क्योंकि खेती करने वाले अपना थोड़ा-सा समय घर पर या कारखानों में जाकर भी तो दूसरे उद्योग-धन्धों में लगा सकते हैं। उन्हें कौन रोकता है ? हां, बल्कि इस फेर-बदल से यदि बड़े-बड़े कारखानों में तेजी से तैयार होने वाली अनुपयुक्त और हानिकर चीजों की पैदावार कम हो जाय और साधारणतया आवश्यक वस्तुओं का भी आवश्यकता से अधिक तैयार करना बन्द हो जाय, तथा अन्न, साग-भाजी, फल और घरेलू पशुओं की संख्या बढ़ जाय, तो इससे किसी भी प्रकार से राष्ट्र की सम्पत्ति कम नहीं हो सकती, बल्कि उलटी उसमें वृद्धि ही हो जायगी।

यह दलील भी ठीक नहीं है कि जमीन इतनी काफी न हो सकेगी कि कारखानों में काम करने वाले सभी आदमियों का आराम के साथ भरण-पोषण हो सके। क्योंकि अधिकांश देशों में वह जमीन जो बड़े-बडे जमींदारों की सम्पत्ति है, कुल श्रम-जीवियों के भरण-पोषण के लिए काफी होगी, अगर जमीन की जुताई-बुआई पूर्णतः आधुनिक ढंग से की जाय, अथवा केवल उस तरह भी की जाय, जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व चीन देश में की जाती थी।

इस विषय से प्रेम रखने वाले सज्जन क्रोपॉटकिन के "दि कांक्वेस्ट ऑव् ब्रेड"[1] और "फील्ड्स, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप्स" (खेत, कारखाने और कार्यालय) नामक पुस्तकों को पढ़ें। तब उनको पता चल जायगा कि अच्छी जुताई-खुदाई से जमीन की पैदावार किस हद तक बढ़ जाती है, और उतनी ही जमीन से कितने अधिक आदमियों को भोजन मिल सकता है। धीरे-धीरे छोटे-छोटे किसान भी वैज्ञानिक ढंग से खेती करना आरम्भ कर देंगे, अगर वे अपना सारा मुनाफा धनी

---

१ इस पुस्तक का अनुवाद हमारे यहाँ से निकल चुका है। नाम 'रोटी का सवाल' और दाम १) है।

ज़मींदारों के हवाले कर देने के लिए मजबूर न किये जायं, जैसा कि अभी किया जाता है। साधारणतया जमींदार लोगों को जो कि इन गरीब किसानों को अपनी जमीनें किराये पर देते हैं उपज बढ़ाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन्हें तो, बिना किसी कष्ट उठाये ही काफी रकम मालगुजारी में मिलती रहती है।

एक दलील और है। "जमीन इतनी कहां है, जो सब मजूरों को मुफ्त दी जा सके। इसलिए अब इस बात पर परेशान न होइए।" कैसी अजीब बात है? पहले तो किसानों से जमीनें छीनी जाती हैं और अब कहा जाता है कि जमीनें काफी नहीं हैं, परेशान मत होइए। एक मकान बिलकुल खाली पड़ा हुआ है, और कुछ आदमी शीतकाल में भयंकर झंझावात के समय उस मकान के बाहर खड़े हुए, आश्रय के लिए, प्रार्थना कर रहे हैं। मकान का मालिक कहता है—"मकान के भीतर इन आदमियों को आने देना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें उन सबके लिए जगह न मिल सकेगी।" उपर्युक्त जमीन वाली दलील भी ठीक ऐसी ही है; ठीक तो यह है कि जो लोग आश्रय के लिए प्रार्थना कर रहे हैं,उनको आने दिया जाय, फिर इसके बाद देखा जायगा कि उसमें उन सबके लिए स्थान मिल सकता है, या केवल थोड़े-से आदमियों के लिए ही। अगर उन सबके लिए स्थान मिल सके, तो जो लोग उसमें आ सकते हैं उन्हीं को क्यों न स्थान दिया जाय?

ठीक यही बात जमीन के सम्बन्ध में भी है। जो जमीनें श्रमजीवियों से ले ली गई हैं, उन्हीं लोगों के हवाले कर देना सर्वश्रेष्ठ मार्ग है;फिर यह देखा जायगा कि यह जमीन सबके लिए काफी होगी या नहीं।

यह बिलकुल गलत है कि दुनिया के सभी मजूर आदमियों के लिए जमीन काफी न होगी। अगर कारखानों में काम करने वाले आदमियों का निर्वाह बाजार से खरीदे हुए अन्न के ऊपर हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न मोल लेने के बदले वे स्वयं इस जमीन को क्यों न जोतें और बोवें, फिर वह जमीन

हिन्दुस्तान, अर्जेण्टाइन, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया, अथवा और कहीं पर भी क्यों न हो।

इसलिए तमाम वे सब दलीलें बेबुनियाद हैं जिनमें कहा जाता है कि कारखानों में काम करने वाले मजूरों को खेती नहीं करनी चाहिए या उनके लिए इतनी जमीन नहीं मिल सकती या वे खेती कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत यह बात साफ है। ऐसे फेर-बदल से जनता की हानि के बदले उपकार ही अधिक होगा और निश्चय ही इससे भारतवर्ष तथा रूस आदि देशों से अकालों का समूल नाश हो जायगा, जो बहुत समय से वहां अड्डा जमाये हुए हैं। ये अकाल इस बात को बताते हैं कि आजकल जमीन का जो बंटवारा किया गया है, वह बिलकुल अनुचित और गलत रीति पर किया गया है।

हाँ, यह सच है कि जिन देशों में कल-कारखानों के व्यवसाय ने बहुत उन्नति कर ली है, जैसा कि इंग्लैण्ड, बेल्जियम तथा संयुक्त-राज्य (अमेरिका), के कुछ स्थानों में है, वहां के श्रमजीवियों का जीवन बिलकुल भिन्न हो गया है। उनका, अब देहातों में वापस लौट आना और खेती करने लग जाना बहुत कठिन जान पड़ता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका देहातों में लौट आना ठीक नहीं। और इससे किसी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं। इस पर अमल करने के लिए सबसे पहले जरूरत इस बात की है कि मजूर लोग यह समझ लें कि उनके हित के ख्याल से गाँव में लौट जाना उनके लिए बहुत जरूरी है। और उन्हें चाहिए कि वे अपने कारखानों के इस दास्य-जीवन को ऐसा न समझ लें, जो हमेशा टिकने वाला हो अथवा जिसमें कोई फेर-बदल न हो सकता हो। वे निश्चयपूर्वक जान लें कि उनका यह जीवन प्रकृति के विरुद्ध है। और उसको बदल देने में ही उनका भला है। और यह समझ कर वे इस-पर अमल करने के उपाय ढूंढने में लग जायं।

इस प्रकार उन मजूरों को, जिन्होंने बहुत काल से अपने बाप-दादों की जमीनें और घर-बार छोड़ दिये हैं और जो कारखानों में काम करके

अपना पेट पाल रहे हैं, इस बात की जरूरत नहीं कि वे अपने मजूर-संघ बना लें और हड़तालें करें और बच्चों की तरह सड़कों पर जुलूस निकालें। उनके लिए तो सिर्फ एक बात की जरूरत है, और वह यह कि वे ऐसे उपायों की खोज करें, जो उन्हें कारखानों की इस गुलामी से मुक्त करदें और जमीन के ऊपर उन्हें अधिकार दिला सकें। उनके मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है, जमींदारों द्वारा जमीन पर अनुचित अधिकार कर लेना। जमींदार कभी जमीन पर खुद काम नहीं करते, पर जमीन पर अधिकार जमाये बैठे हैं। यही एक बात है जिसके लिए मजूरों को अपने शासकों से प्रर्थना करनी चाहिए और अपनी मांग पेश करनी चाहिए। उसमें जरा भी डरने की बात नहीं है। जमीन उनकी है; अतः उसे मांगना अपने निश्चित और न्यायोचित अधिकार को वापस मांगना होगा। जमीन के ऊपर रहना, और उस पर मेहनत करके अपना पेट भरना प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक अधिकार है। इसके लिए किसी से आज्ञा मांगने की कोई जरूरत नहीं।

(४)

जमीन पर से खानगी मालिकी का अन्त कर देना अब बहुत जरूरी हो गया है। क्योंकि जमींदारों के अन्याय, स्वेच्छाचारिता और अत्याचार की अब हद हो गई है। पर प्रश्न केवल यही है कि इसका अन्त हो किस प्रकार ? रूस तथा अन्य सभी देशों में गुलामी की प्रथा का अन्त सरकार की आज्ञा से किया गया था और ऐसा जान पड़ता है कि भूमि को किसी एक व्यक्ति अथवा समाज की सम्पत्ति मानने की प्रथा का भी अन्त इसी प्रकार सरकार की ओर से जारी की गई आज्ञाओं से हो सकता है। परन्तु सरकारें प्रायः ऐसी आज्ञायें बहुत कम दिया करती हैं।

सभी सरकारें ऐसे ही आदमियों की बनी हुई हैं, जो दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं; और दूसरी बातों की अपेक्षा जमींदारी की प्रथा में ऐसे जीवन की सम्भावना बहुत कछ है। केवल

शासक और जमींदार-समाज के ही लोग इस प्रथा का अन्त करने का विरोध न करेंगे,बल्कि वे लोग भी जो सरकारी कर्मचारी अथवा जमींदार न होते हुए भी धनिक-समाज तथा ऐसे सरकारी कर्मचारियों, शिल्पकारों, वैज्ञानिकों और व्यापारियों के पास नौकर हैं। वे यह समझकर इसका अन्त करने में विरोध करेंगे कि उनके ऐशो-आराम का सारा दारोमदार इस जमींदारी के ऊपर है। वे सदैव उसका समर्थन करते हैं अथवा और सभी ऐसी बातों की आलोचना करते हैं, जो इससे कम महत्त्व की हैं, पर जमींदारी के प्रश्न को कभी छूते तक नहीं हैं।

अधिकांश सफेदपोश लोग, अगर जान-बूझकर, नहीं तो अज्ञान से ही, यह समझते हैं कि उनकी अच्छी स्थिति का कारण जमींदारी ही है।

यही कारण है कि राष्ट्रीय महासभाएं (पार्लमेंट) लोगों को यह दिखलाने भर के लिए कि वे जनता की शुभ-चिन्तक हैं, और वे जो कुछ भी करती हैं उसकी भलाई के ख्याल से ही करती हैं, ऐसे अनेक प्रस्तावों पर वाद-विवाद करती हैं और उन पर अमल करना भी आरम्भ कर देती हैं, जिनसे वे बतलाती हैं, लोगों की दशा सुधरेगी। पर एक बात को वे सब बिलकुल छोड़ देती हैं, जिसकी लोगों को सबसे अधिक आवश्यकता है और जिससे लोगों की दशा का वास्तविक सुधार हो सकता है और वे एक उन्नत राष्ट्र बन सकते हैं। यह बात क्या है? यही जमीन पर से खानगी मालिकी का अंत कर देना।[1] इस आंदोलन को वे छूती तक नहीं हैं।

इसलिए जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार उठा देने के प्रश्न को हल करने के लिए सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि इस

---

१ सच्चे साम्यवादी तो सदा इस पर जोर देते रहे। यह टाल्स्टाय का भ्रम है। पिछले उदाहरणों से उनकी यह बात गलत हो गई है।

—सम्पादक।

विषय में लोगों ने जो खामोशी अख्तियार कर रखी है, उसका अंत कर दिया जाय। यह खामोशी उन देशों में अख्तियार की जाती है, जहां पर बहुत कुछ शक्ति पार्लमेण्टों के हाथ में है। फिर रूस में तो सारी शक्ति बादशाह जार के हाथ में है, अतः यहां जमींदारी का अन्त करने के लिए सरकारी आज्ञा और भी कम सम्भव है। पर रूस में भी नाम-मात्र के लिए जार के हाथ में शक्ति है। वास्तव में यह शक्ति केवल दैव के कारण उन सैकड़ों—हजारों लोगों के हाथों में है, जो जार के सम्बन्धी और साथी हैं और जो उससे जबरदस्ती अपनी सारी मनचाही बातें करा लेते हैं। इन सभी आदमियों के पास हजारों बीघा जमीन है। इसलिए वे जार को, यदि वह ऐसा करना चाहें तो भी जमींदारों के पंजे से जमीन को निकालने न देंगे। जिस समय जार ने किसानों को स्वतन्त्र किया था, उस समय उन्हें अपने-अपने गुलामों को आजाद कर देने के लिए अपने निकटस्थ लोगों पर जोर देने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। पर यह फिर भी इसलिए हो सका कि असल चीज जमीन तो जमींदारों के हाथ में ही बनी रही। लेकिन अगर वे जमीन पर से अपना अधिकार उठा लें, तो जार के सम्बन्धियों तथा मित्रों को यह निश्चय है कि जिस प्रकार का जीवन वे इस समय बिता रहे हैं और बहुत समय से जिसके वे आदी हो रहे हैं, उसकी जो कुछ भी आशा रह गई है, वह भी हाथ से जाती रहेगी।

इसलिए इस बात की आशा करना व्यर्थ है कि संसार की सरकारें विशेष कर हमारी सरकार, जमीन को जमींदारों के पंजे से निकालकर प्रजा के हाथ में दे देगी।

बल-प्रयोग से भी जमींदारों से जमीन को छीन लेना असम्भव है, क्योंकि शक्ति हमेशा उन लोगों के हाथ में रही है और रहेगी,

---

[1] अब ये बातें पुरानी पड़ गई हैं और काल के गर्त्त में विलीन हो गई हैं। —सम्पादक।

जिन्होंने जमीन को पहले से ही अपने अधिकार में कर लिया है।

साम्यवादियों की रीति के अनुसार -जबतक जमीन वापस नहीं मिल जाती, तब तक ठहरे रहना—अर्थात् भविष्य में अधिक की आशा से अपनी दशा और भी खराब बना देने के लिए तैयार हो जाना निरी मूर्खता है। क्योंकि प्रत्येक विचारवान् पुरुष इस बात को जानता है कि यह तरीका श्रम-जीवियों को आजाद करने के बदले उन्हें पूंजी-पतियों का और भी अधिक गुलाम बना देता है और उन्हे ऐसा कर देता है कि भविष्य में वे उन मैनेजरों की गुलामी करें, जो नई-नई संस्थाएं खोलकर उनके सञ्चालक बनेंगे।

किसी भी प्रतिनिधि सरकार से अथवा, जैसा कि रूस के किसानों ने दो राजाओं के राज्य-काल में किया है, जार से इस बात की आशा करना और भी अधिक मूर्खता होगी कि वे जमीन को जमींदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने की इस प्रथा का अंत कर देंगे। क्योंकि जार के सम्बन्धियों तथा स्वयं जार के पास भी बहुत बड़े-बड़े इलाके हैं, और यद्यपि प्रकट में उनका यह कहना है कि वे किसानों के हितचिन्तक हैं, तथापि जमीन एक ऐसी चीज है जिसकी उनको परमावश्यकता है; अतः वे उसे कभी न छोड़ेंगे। क्योंकि यह बात वे भली प्रकार जानते हैं कि यदि वे जमीन के मालिक न रहे तो उन्हें अपनी इस ऐशो-आराम की जिन्दगी से, जो कि वे दूसरों की गाढ़ी कमाई का उपभोग करके बिता रहे हैं, हाथ धोना पड़ेगा।

तो फिर मजूर लोग जिस अत्याचार का शिकार बन रहे हैं, उससे अपने-आपको मुक्त करने के लिए उन्हें किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए?

(५)

पहले तो ऐसा जान पड़ता है कि इसका कोई उपाय ही नहीं है; मजूर लोग गुलामी की जंजीरों में इस तरह जकड़े हुए हैं कि उनका स्वतन्त्र होना अब संभव ही नहीं। परन्तु यह भ्रम है। मजूरों को

अपनी मुक्ति का उपाय खोजने के लिए पहले अपने अत्याचारों का कारण खोजना चाहिए। और जब वे ऐसा करेंगे तब वह देखेंगे कि खून-खच्चर करने व साम्यवादियों के बतलाये मार्ग पर चलने तथा सरकार से सहायता प्राप्त करने की व्यर्थ आशाएं रखने के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के ऐसे साधन उनको प्राप्त हैं, जिनमें कोई कभी बाधक नहीं हो सकता। और ये साधन सदैव से उनके हाथ में रहे हैं, और आगे भी रहेंगे।

वास्तव में मजूरों की इस दुःखपूर्ण और शोचनीय अवस्था का केवल एक ही कारण है—यही कि जिस जमीन की मजदूरों को जरूरत है, वह जमींदारों के अधिकार में है। परन्तु जमींदार भला इस जमीन को अपने अधिकार में किस प्रकार रख सकते हैं ?

पहले तो इस तरह कि, जिस समय मजूरों की ओर से इस जमीन को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया जायगा, उस समय उनके इस कार्य का विरोध करने के लिए फौजें भेजी जायंगी। वे जमीन पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करने वालों को मारकर भगा देंगी और जरूरत पड़ने पर उन्हें यमलोक तक पहुंचा देने में कोई कसर बाकी न रखेंगी। इस तरह वे फिर जमींदारों को जमीन सौंप देंगी। परन्तु जरा सोचो तो, इन सेनाओं में सैनिक कहां से आते हैं ? सेनाओं के सैनिक, श्रमजीवियो, तुम्हीं तो हो। श्रमजीवियो, तुम्हीं तो सैनिक बनकर और सेना के अधिकारियों की आज्ञा का पालन करते हुए जमींदारों के उस चीज का मालिक बनने में सहायक होते हो, जो वास्तव में उनकी नहीं सर्व-साधारण की और इसलिए तुम्हारी भी संपत्ति है। पर तुम सिर्फ यही नहीं करते। तुम उनकी (जमींदारों की) इस जमीन पर काम करके और उसे लगान पर लेकर उनकी और भी सहायता करते हो। श्रमजीवियो ! तुम्हें चाहिए कि तुम ये सब बातें छोड़ दो। फिर तुम देखोगे कि जमींदारों की जमीन को अपने अधिकार में रखना व्यर्थ ही नहीं वरन् असंभव हो जायगा और वह जमीन सार्वजनिक

संपत्ति हो जायगी। परन्तु सम्भव है, ऐसी दशा में जमींदार मजूरों के स्थान में यन्त्रों से काम लेने लगें और खेती करने के स्थान में पशु-पालन, उनकी सन्तान बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने तथा जंगलों की रक्षा और वृद्धि आदि का काम आरम्भ कर दें। पर वे कुछ भी करें, तुम निश्चय पूर्वक जानो कि, श्रमजीवियो, तुम्हारे बिना उनके लिए अपना काम चलाना असम्भव हो जायगा और तब एक-एक करके उन सबको मजबूर होकर अपनी-अपनी जमीन छोड़ देनी पड़ेगी।

इस प्रकार श्रमजीवियो! इस गुलामी और दारिद्रय से मुक्त होने का एक-मात्र साधन यही है कि तुम पहले यह समझ लो कि जमीन पर किसी एक व्यक्ति अथवा समाज-विशेष का अधिकार कर लेना एक भारी अपराध है। जब तुम यह समझ लो, तो दूसरा काम यह है कि तुम कभी फौजों में नौकरी न करो। क्योंकि फौजों के बल पर ही तो ये लोग किसानों और मजूरों से जमीनें छीनते हैं। एक बात और है। जमींदारों की जमीनों पर काम करना, एवं उसे लगान पर लेना भी उनकी जमीन का उन्हें मालिक बने रहने देने में सहायता करना है। इसीलिए उनकी जमीनों पर काम भी न करो, न उन्हें किराये पर ही लो।

(६)

लोग कहेंगे "परन्तु यह उपाय तो तभी कारगर होगा, जब दुनिया-भर के सभी मजूर यह निश्चय कर लें कि फौज में नौकरी नहीं की जाय और न जमींदारों की जमीन पर काम किया जाय और न उस जमीन को लगान पर लिया जाय। और सारे संसार के श्रमजीवी एकदम काम करना बन्द कर दें। परन्तु ऐसी बात न तो है ही और न हो सकती है। अगर थोड़े से श्रमजीवी इन सब बातों पर राजी भी हो जायं, तो बाकी श्रमजीवी, जो प्रायः दूसरे देशों के श्रमजीवी होंगे, इसकी आवश्यकता को न समझेंगे। और इसलिए परिस्थिति में कोई विशेष फर्क न होगा— जमीनें तो ज्यों-की-त्यों जमींदारों के अधिकार में बनी रहेंगी। फल यह होगा कि इन हड़ताल करने वाले मजूरों से दूसरों का

भला होना तो ठीक वे उलटी अपनी ही हानि कर लेंगे।"

यह एतराज बिलकुल सही होता, अगर मैं उन्हें हड़ताल कर देने (काम करने से इन्कार कर देने) को कहता होता, लेकिन मैं हड़ताल की बात नहीं करता। मैं तो यह कहता हूं कि श्रमजीवियों को चाहिए कि वे सेनाओं में भरती होना बन्द कर दें, जो हमारे भाइयों पर आक्रमण करके उन्हें अपने स्वत्वों से वञ्चित कर देती है। मैं तो यह कहता हूं कि वे जमींदारों की जमीन पर काम करने या उसे लगान पर लेने से इन्कार कर दें। क्यों ? इसलिए नहीं कि इससे श्रमजीवियों को केवल हानि है और उससे उनकी पराधीनता बढ़ जाती है, बल्कि इसलिए कि इन कामों में किसी प्रकार का कोई भाग लेना स्वयं ही एक बहुत बड़ा पाप है। प्रत्येक मनुष्य को इस पाप से उसी प्रकार बचना चाहिए, जिस प्रकार हत्या करने, चोरी करने, डाका डालने इत्यादि कामों के करने से अथवा उनमें किसी भी प्रकार का कोई हिस्सा लेने से बचना उसका परम धर्म है। यदि श्रमजीवी लोग इस बात पर जरा भी विचार करेंगे कि कुछ भी परिश्रम न करनेवाले इन भद्र पुरुषों के जमीन पर अधिकार बनाये रखने में सहायता करना कहां तक उचित है, तो वे निःसन्देह देखेंगे कि जमीन पर किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष का एकान्त अधिकार होना बिलकुल न्याय-विरुद्ध बात है और इसलिए उस प्रथा को बनाये रखना एक महापाप है। इस पाप के कारण सहस्रों मनुष्य, वृद्ध पुरुष एवं छोटे-छोटे बच्चों को दुःख और दारिद्र्य में जीवन बिताना पड़ता है। इसी पाप के कारण उन्हें भर-पेट भोजन नहीं मिलता, यही नहीं बल्कि आवश्यकता तथा अपनी शक्ति से बाहर परिश्रम करना पड़ता है। इस घृणित जमींदारी प्रथा के कारण हजारों स्त्री-पुरुषों को फाकेकशी और अति परिश्रम के कारण अकाल ही काल के गाल में पहुंचना पड़ता है;

यदि जमींदारों-द्वारा जमीन को अपने एकान्त अधिकार में बनाये रखने का यही परिणाम हो—और यह बात अब प्रायः सभी पर विदित

हो गई है कि इसका परिणाम ऐसा ही होता है—तो यह बात भी स्पष्ट है कि जमींदारों के जमीन पर अधिकार रखने और इस अधिकार का समर्थन करने के काम में किसी प्रकार भी कोई हिस्सा लेना एक बहुत बड़ा पाप है, जिससे प्रत्येक मनुष्य को दूर रहना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, निर्बलों को सताने, उनपर आक्रमण करने, चोरी करने, हत्या करने तथा ऐसे ही दूसरे कामों को स्वभावतः पाप-कर्म समझते हैं और ऐसे कामों से सदैव दूर रहते हैं। ठीक ऐसा ही आचरण श्रमजीवियों को भौमिक संपत्ति के सम्बन्ध में करना चाहिए। वे स्वयं ऐसी सम्पत्ति के अनौचित्य को देखते हैं और उसे बहुत ही कुत्सित एवं निर्दयतापूर्ण काम समझते हैं। तो फिर क्या कारण है, जो वे उसमें केवल हिस्सा ही नहीं लेते बल्कि उसका समर्थन भी करते हैं ?

(७)

इस प्रकार मैं जिस बात की सलाह देता हूं, वह हड़ताल नहीं है। मैं तो भौमिक संपत्ति की रक्षा और समर्थन को एक अपराध और महा-पाप बता रहा हूं और स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि हम सब ऐसे पाप से अथवा ऐसा करने से अपना हाथ खींच लें—उसमें सहायक होने से बाज आवें। यह सच है कि इस प्रकार किसी काम को बुरा या पाप समझ कर उसे छोड़ने के लिए सब लोग जल्दी तैयार नहीं होते, जैसा कि हड़तालों में हुआ करता है। और इस कारण ऐसे कामों में उस सफलता की भी आशा नहीं की जा सकती है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर जितनी स्थायी और दृढ एकता स्थापित हो जाती है, वह हड़ताल से कदापि नहीं हो सकती। हड़ताल के समय होने वाली कृत्रिम एकता हड़ताल का उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर फौरन नष्ट हो जाती है। पर जो एकता किसी कार्य-क्रम को स्वीकार कर लेने पर अथवा एक ही कार का विश्वास रखने के कारण होती है, वह दिन पर दिन और भी अधिक बढ़ती जाती है और अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर खींचती जाती है और जब श्रमजीवी हड़ताल की भावना से नहीं, बल्कि भौमिक

संपत्ति को पाप-मूलक समझ, उसमें किसी प्रकार कोई हिस्सा लेने से अपना हाथ खींच लेंगे, तो उनमें भी वही चिरस्थायी एकता होगी। बहुत सम्भव है, जमीन की खानगी मालिकी की रक्षा-समर्थन में किसी प्रकार का हिस्सा लेना अनुचित है, इस बात को समझते हुए भी उनमें से बहुत थोड़े आदमी जमींदारों की जमीन पर काम करना बन्द करें और उसे लगान पर भी न लें। परन्तु तो भी, चूंकि वे ऐसा किसी स्थानीय और अस्थायी इकरारनामे के कारण नहीं, बल्कि यह समझकर करेंगे कि कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित है और किसी उचित बात को तो हमेशा सभी मनुष्य मानने को तैयार रहते हैं और भूमि पर वैयक्तिक अधिकार बनाये रखना तो सरासर एक अनुचित बात है ही; अतः ज्यों-ज्यों यह बात लोगों पर प्रकट होती जायगी त्यों-त्यों ऐसे लोगों की संख्या आप-से-आप बढ़ती जायगी।

पहले से ही ठीक-ठीक यह बतला देना असंभव है कि श्रमजीवियों के यह समझ जाने पर कि, भौमिक संपत्ति के तत्त्व की रक्षा करने में किसी प्रकार कोई हिस्सा लेना बहुत बड़ा पाप है, समाज में क्या-क्या परिवर्तन हो जायंगे। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे परिवर्तनों का होना अनिवार्य है। इस ज्ञान का महत्त्व जितना भी अधिक हो उतना ही अधिक उसका प्रचार भी होगा। सम्भव है; ऐसे परिवर्तनों का परिणाम यह हो कि कुछ श्रमजीवी जमींदारों के लिए काम करना या उनकी जमीन को किराये (लगान) पर लेना बन्द कर दें और इस प्रकार जब जमींदारों को जमीन पर अपना अधिकार बनाये रखने में कोई लाभ न दिखलाई पड़ेगा, तो वे या तो श्रमजीवियों के साथ ऐसा समझौता कर लेंगे, जो उन श्रम-जीवियों के लिए हितकर होगा या जमीन को बिलकुल ही छोड़ देंगे। यह भी सम्भव है कि जो श्रमजीवी सेना में भरती हो गये हैं, वे यह समझ जाने पर कि जमीन पर वैयक्तिक अधिकार होना बुरा है, अपने ग्रामीण श्रमजीवी भाइयों पर आक्रमण करने और उन्हें पद-दलित करने से इन्कार कर

दें, जिसका परिणाम शायद यह हो कि सरकार जमींदारों की जमीन की रक्षा करने में असमर्थ हो जाय और इस तरह जमीन जमींदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में चली जाय और उसके ऊपर किसी व्यक्ति अथवा समाज-विशेष का अधिकार न रह जाय।

अन्त में, यह भी सम्भव है कि जिस समय सरकार को यह विश्वास हो जायगा कि जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार का उठ जाना अनिवार्य और स्पष्ट हो गया है, उस समय वह श्रमजीवियों की इस विजय को सरकारी आज्ञा का रूप देकर कानून द्वारा भूमि पर से वैयक्तिक अधिकार की बात उठा दे।

यह बता देना बहुत मुश्किल है कि श्रमजीवियों को इस बात का ज्ञान हो जाने पर कि जमीन पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार होना एवं उसमें सहायक होना भी एक अनुचित बात है, जमीन पर अधिकार रखने के सम्बन्ध में क्या-क्या परिवर्तन होना जरूरी और सम्भव है। सम्भव है बहुत से परिवर्तन हों। पर एक बात बिलकुल निश्चय है—वह यह कि कोई मनुष्य इस संबंध में सच्चे दिल से और ईश्वर पर विश्वास करके कुछ कार्य करेगा, तो निश्चय ही उसके प्रयत्न व्यर्थ न होंगे।

जिस समय लोगों के सामने कोई ऐसा काम करने की बात आ जाती है, जिसका बहु-संख्यक जन-समाज ने समर्थक नहीं किया है, तो वे प्रायः यह कहने लगते हैं, "इन तमाम लोगों के मुकाबले मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ?" ऐसे लोग यह समझते हैं कि किसी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसे सभी अथवा कम-से-कम ज्यादातर लोग करने लग जायं; पर यह धारणा सरासर भ्रमपूर्ण है। सच तो यह है कि बहुत से आदमियों की जरूरत तो एक बुरे काम के लिए भले ही हो, एक अच्छे काम के लिए तो एक ही आदमी काफी है; क्योंकि जो मनुष्य अच्छा काम करता है, ईश्वर हमेशा उसके साथ रहता है। और जिस मनुष्य के साथ ईश्वर है, उसके साथ, अभी

अथवा देर से, किसी-न-किसी समय सभी मनुष्य अवश्य हो जायंगे।

श्रमजीवियों की दशा में सुधार तो तभी होगा, जब वे ईश्वर की आज्ञानुसार अथवा अपने अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार काम करेंगे, अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक सचाई और सदाचार के साथ काम करने से ही उनकी दशा सुधरेगी।

(८)

अगर सर्व-साधारण ने साम्यवाद की शिक्षा को ठीक-ठीक समझा है तो कहना होगा कि वह शिक्षा उलटी है, जो मंजूरी करने के तमाम औजारों को सबकी संपत्ति बनाने से पहले ही मंजूरों को उन कार-खानों के मालिक बनने की आशा दिलाती है, जिनमें कि वे काम करते हैं। वह इस स्वर्ण-सिद्धान्त के विरुद्ध तो है ही कि 'मनुष्य को दूसरों के साथ ठीक वैसा ही सलूक करना चाहिए जैसा कि वह दूसरों से चाहता है,' पर नीति के भी बिलकुल विरुद्ध है।

ठीक इसी प्रकार श्रमजीवियों का सैनिक बनकर अपने भाइयों को दबाकर अथवा जमीन पर मजदूरों की तरह काम करके या उसे लगान पर लेकर इस भौमिक संपत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रखने की बात का समर्थन करना इस नियम के प्रतिकूल है। भौमिक सम्पत्ति का यह समर्थन इस नियम के अनुकूल इसलिए नहीं है कि, यदि इससे कुछ समय के लिए उन लोगों की दशा सुधर भी जाती है, जो इसका आश्रय लेते हैं, तो भी इसमें सन्देह नहीं, कि इससे दूसरे श्रमजीवियों की दशा और भी अधिक बिगड़ जाती है।

इसलिए श्रमजीवियों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए जितने साधनों का प्रयोग किया है–खुले तौर से आक्रमण करना, साम्यवाद के सिद्धान्ता-नुसार कार्य करना तथा अपने स्वार्थ के लिए अलग-अलग व्यक्तियों का जमींदारी प्रथा के अनौचित्य का समर्थन करना आदि—वे सभी साधन असफल हुए हैं, क्योंकि वे सभी नैतिक जीवन के इस मूल सिद्धान्त से दूर रहे हैं कि, "तुम्हें दूसरों के साथ वही सलूक करना

चाहिए जो तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें।''

अपने-आपको इस दासता के बंधन से मुक्त करने के लिए श्रम-जीवियों को कोई प्रत्यक्ष कार्य करने की जरूरत नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल इसलिए इन पाप-कर्मों से दूर रहना है कि यह दूर रहना न्यायोचित एवं नीति के अनुकूल अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा के अनुकूल है।

किसी वस्तु की कमी केवल उसी समाज के अंदर रहती है जो पशुओं की भांति एक दूसरे से लड़-भिड़ कर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। परन्तु सच्चे धर्मानुयायी समाज में किसी बात की कमी नहीं रह सकती। जिस समय लोग अपनी-अपनी चीजों को आपस में बांट-चूंट कर खाना और रहना आरम्भ कर देंगे, उस समय उनके पास हमेशा उन चीजों की इफरात रहेगी जिनकी उन्हें आवश्यकता है, यहां तक कि बहुत-सी उनके खर्चे से बच भी रहेंगी। एक समय कुछ लोग ईसा मसीह के उपदेशामृत का पान कर रहे थे। उपदेश बड़ा लम्बा था। इसलिए उनमें से कुछेक को बड़ी जोरों से भूख लगी। मसीह को यह मालूम हुआ कि उनमें से कुछ लोगों के पास खाने-पीने का सामान है। तब उन्होंने सबको मण्डलाकार बैठ जाने का आदेश किया और जिन लोगों के पास खाने का सामान था, उन्हें यह आज्ञा दी कि वे अपने निकटस्थ लोगों को एक ओर से इस प्रकार खाना बढ़ाना आरम्भ कर दें कि वे अपनी-अपनी भूख बुझा लेने के बाद बचा हुआ भोजन दूसरे के आगे बढ़ा दें। और जब इस प्रकार खाना एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच गया तो सभी लोगों की क्षुधा निवारण होगई और बहुत-सा सामान बाकी बच रहा।

इसी प्रकार उन लोगों में भी जो इस प्रकार काम करेंगे, किसी बात की कमी न रहेगी और ऐसे लोगों को जमींदारों के लिए काम करने अथवा लगान पर उनकी जमीन लेने की कोई आवश्यकता न रहेगी। इसलिए लोगों को चाहिए कि वे खुद दरिद्र होने पर भी कोई

ऐसा काम न करें जो उनके दूसरे भाइयों के लिए हानिकारक हो।

यदि इस समय श्रमजीवी लोग जमींदारों के यहां उनका काम करते हैं और उनकी जमीन किराये (लगान) पर लेते हैं, तो इन सब का कारण केवल यही है कि अभी उन सब लोगों को इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है कि अमुक कर्म पापकर्म है। और न सभी लोग यह समझते ही हैं कि इससे वे अपना तथा अपने भाइयों का बहुत बड़ा अनिष्ट करते हैं। लोग जितना ही अधिक भौमिक सम्पत्ति में भाग लेने के महत्त्व को समझेंगे और जितनी ही अच्छी तरह वे इसे समझ जायंगे, उतनी ही शीघ्रता और सुगमता एवं दृढ़ता के साथ परिश्रम करनेवालों के ऊपर से परिश्रम न करने वालों का दबाव उठ जायगा।

(६)

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एक-मात्र उपाय यह है कि जमीन को जमींदारों के अनुचित अधिकार से मुक्त कर दिया जाय और यह ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल है। जमींदारों की जमीन पर काम न करने और उसके किराये (लगान) पर न लेने से भी जमीन की मुक्ति हो सकती है। इस तरह श्रमजीवी सेना में सम्मलित होने से इन्कार भी कर सकते हैं जब कि वह श्रमजीवियों के विरुद्ध काम में लाई जा रही हो। परन्तु तुम श्रमजीवियों के लिए इतना ही जान लेना काफी न होगा कि तुम्हारे हित के लिए जमीन का जमींदारों के पंजे से निकल जाना आवश्यक है। केवल जमींदारों की जमीन पर काम करना और उसे किराये (लगान) पर लेना बन्द कर देने से भी काम न चलेगा। तुम्हें तो यह भी जान लेना जरूरी है कि जिस समय जमीन जमींदारों के पंजों से निकल जायगी, उस समय तुम उसका प्रबन्ध किस प्रकार करोगे? आपस में श्रमजीवियों में उसे कैसे बांटोगे?

हममें से बहुतों का यह विचार है कि जो लोग कोई काम नहीं करते, उनके हाथ से पहले जमीन निकाल लेने भर की देर है कि इसके बाद सारी बातें ठीक हो जायंगी। पर बात ऐसी नहीं है। यह कहना तो

बहुत ही आसान है कि जमीन आलसी और काम न करने वालों के हाथ से निकाल कर काम करने वालों के हाथ में दे दी जाय। परन्तु यह सारी कार्रवाई किस प्रकार की जाय कि न्याय का उल्लंघन न हो और धनिकों को फिर से इस बात का अवसर भी न मिले कि वे बड़े-बड़े इलाके खरीद कर उनके मालिक बन जायं और इस प्रकार काम करने वालों (श्रमोपजीवियों) को फिर अपने दास बना लें। तुममें से बहुत लोग अभी समझते हैं, कि प्रत्येक श्रमजीवी अथवा समाज को अपनी इच्छानुसार जहां कहीं वे चाहें, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बस जाने और जमीन जोतने-बोने का अधिकार होना चाहिए, जैसा कि पुराने जमाने में होता था और अब भी कहीं-कहीं होता है। पर यह वहीं सम्भव है जहां पर आबादी कम हो, और जमीन इफरात और एक ही किस्म की हो। पर जहाँ पर आबादी इतनी ज्यादा है कि उसका उस जमीन से भरण-पोषण भी ठीक तौर से नहीं हो सकता और जहां की जमीन कई किस्म की है, वहाँ यह जरूरी है कि लोगों में उसे दूसरी तरह बांटने के उपायों की खोज की जाय। यदि इसका बंटवारा जन-संख्या के अनुसार किया जायगा तो जमीन उन लोगों के भी हिस्से में चली जायगी, जो यह भी नहीं जानते कि वह किस प्रकार जोती-बोई जाती है और फिर ये काम न करने वाले लोग उसे या तो दूसरों को किराये पर उठा देंगे या धनवानों के हाथ उसे बेच देंगे। नतीजा क्या होगा? फिर ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ जायगी जिनके पास हजारों बीघा जमीन है,पर जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि काम न करने वाले लोगों को जमीन बेचने और उसे किराये पर उठा देने से क्यों न रोक दिया जाय? परन्तु ऐसी दशा में वह जमीन बेकार पड़ी रह जायगी, जो ऐसे लोगों की सम्पत्ति है जो या तो काम करना नहीं चाहते या काम कर ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त, यदि जमीन का बंटवारा जन-संख्या के हिसाब से किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि एक ही किस्म की जमीन सब

के हिस्से में कैसे डाली जाय ? कुछ जमीन तो खूब उपजाऊ और कुछ कंकरीली, पथरीली, ऊसर, रेतीली और दल-दलदार है। कस्बों में ऐसी उपजाऊ जमीन है जिसमें फी एकड़ खूब आमदनी होती है पर कुछ दूसरे स्थानों में ऐसी जमीन मिलेगी जिनसे कोई भी आमदनी नहीं होती। तो फिर जमीन का विभाजन (बंटवारा) किस प्रकार किया जाय कि वह काम न करने वालों के हिस्से में न पड़े और किसी का हिस्सा भी न मारा जाय और किसी प्रकार का विरोध, लड़ाई-झगड़ा और फिसाद भी पैदा न हो ? बहुत दिनों से लोग इन बातों पर विचार कर रहे हैं और इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और इस सम्बन्ध में बहुत-सी ऐसी युक्तियां ढूंढ़कर निकाली गई हैं कि जिनसे श्रमजीवियों में जमीन का समुचित बंटवारा किया जा सके।

समाज-संगठन सम्बन्धी कुछ योजनायें हैं जिन्हें साम्यवादी समझा जाता है। इन योजनाओं में जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति मानी जाती है, और सभी लोग सम्मिलित रूप से उसे जोतते-बोते हैं। पर इनके अतिरिक्त मुझे नीचे लिखी कुछ योजनाओं का पता है:—

सबसे पहली योजना जो मैं बताऊंगा विलियम ओगिलवी नामक एक स्काटलैण्ड निवासी सज्जन की बनाई हुई है। ओगिलवी अठारहवीं शताब्दी के पुरुष बतलाये जाते हैं। महाशय ओगिलवी का कथन है कि चूंकि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा होता है इसलिए उस जमीन पर रहने और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करने का उसे पूर्ण अधिकार है। इसलिए थोड़े से मनुष्य इस जमीन को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर उसके इस अधिकार में किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उतनी जमीन अपने कब्जे में रखने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए जो उसके हिस्से की है। अगर कोई अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में ले लेता है और उन हिस्सों से फायदा उठाता है; जिनके सम्बन्ध में वे लोग जो वास्तव में उसके मालिक हैं, अपना कोई दावा

पेश नहीं कर रहे हैं, तो ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह इसके लिए सरकार को विशेष कर दिया करे।

इसके कुछ वर्ष बाद ब्रिटेन-निवासी एक दूसरे सज्जन ने जमीन-सम्बन्धी इस समस्या को इस प्रकार हल किया "सारी जमीन जिलों की जन-संख्या में सामूहिक रीति से बांट दी जाय। और जिस प्रकार जिले की जनता चाहेगी उसका उपभोग कर सकती है" इस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा भूमि को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की प्रथा का बिलकुल अन्त ही कर दिया गया था।

महाशय स्पेन्स ने भी इसी सम्बन्ध में अपने विचार एक प्रसंग पर सन् १७८८ में प्रकट किये थे। प्रसंग यों है।

"एक दिन मैं अकेला जंगल में अखरोट बीन रहा था कि एकाएक उस जंगल के अफसर (फोरस्टर) ने झाड़ी के बीच से मेरी ओर झांक-कर मुझसे पूछा, "तुम यहां क्या कर रहे हो?" मैंने उत्तर दिया, "अख-रोट बीन रहा हूँ।"

उसने कहा,—"क्या अखरोट बीन रहे हो ? यह कहने का साहस तुम्हें कैसे हुआ ?"

मैंने कहा,—"बताओ, क्यों न हो ? अगर कोई गिलहरी या बन्दर ऐसा करता होता तो क्या आप उससे भी ऐसा ही प्रश्न करते ? क्या आप मुझे इन जानवरों से भी कम समझते हैं, या मेरा अधिकार इनसे भी कम है ?" मैंने भी जरा कड़ककर पूछा "आखिर तुम होते कौन हो जो मेरे काम में इस तरह बाधा पहुँचा रहे हो ?"

उसने कहा—"मैं यह सब तुम्हें उस समय बता दूंगा, जब मैं तुम्हें यहां अनधिकार-प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार कर लूंगा।"

मैंने उत्तर दिया—"बेशक, लेकिन जरा यह तो बताइए कि यहां, जहां पर कभी किसी मनुष्य ने न पेड़ लगाये और न जमीन जोती-बोई, मेरा अपना अनधिकार-प्रवेश कैसे कहा जा सकता है ? ये अखरोट तो प्रकृति देवी ने अपनी इच्छा से लोगों की भेंट किये हैं, और इनका उप-

भोग करने का अधिकार तो मनुष्य और पशु सभी रखते हैं। वे तो सर्व-साधारण की सम्पत्ति हैं।"

उसने कहा—"मैं तुमसे यह कहता हूँ कि यह जङ्गल सर्व-साधारण की सम्पत्ति नहीं है। इसके मालिक पोर्टलैंड के ड्यूक हैं।"

मैंने कहा—"बड़ी अच्छी बात है! ड्यूक साहब जुग-जुग जीयें। पर प्रकृति उन्हें भी उतना ही जानती है जितनी कि मुझे। और प्रकृति देवी के भण्डार में तो यह नियम है कि पहले आओ और पहले खाओ। इसलिए अगर साहब कुछ अखरोट लेना चाहें तो शीघ्रता करें।'

अन्त में महाशय स्पेन्स ने गरजकर कहा कि, अगर मुझे ऐसे देश की रक्षा करने का हुक्म दिया जाय कि जिसमें मैं एक अखरोट भी नहीं तोड़ सकता, तो मैं यह कहकर अपने हथियार फेंक दूंगा कि, "इसके लिए पोर्टलैण्ड के ड्यूक जैसे व्यक्तियों को ही लड़ने दो, जो देश के मालिक होने का दावा करते हैं।"

इसी प्रकार 'विवेक-युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man) नामक ग्रन्थों के प्रसिद्ध लेखक टामस पेन ने भी इस समस्या को हल किया है। उनके हल की विशेषता यह थी कि भूमि को तो उन्होंने सार्वजनिक सम्पत्ति माना और भिन्न-भिन्न जमींदारों द्वारा भूमि पर स्थापित किये अधिकार को नष्ट करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया था। फलतः जो जमीन अभी तक किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति रही है उसके मालिक के मर जाने पर सार्वजनिक सम्पत्ति हो जाय।

टामस पेन के बाद, गत शताब्दी में पैट्रिक एडवर्ड डव ने इस विषय में बहुत-कुछ विचार किया और लिखा है। मि० डव का सिद्धांत यह था कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढ़ता है—स्वयं जमीन की उर्वरा शक्ति से और दूसरे उस पर किये गए परिश्रम से। जमीन का जो कुछ भी मूल्य उस पर किये गए परिश्रम के कारण बढ़ जाता है, वह किसी मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति हो सकती है। पर अपनी उर्वरा-

शक्ति के कारण उसका जो कुछ भी मूल्य होता है, वह तो समस्त राष्ट्र की सम्पत्ति है। जैसा कि हो रहा है वह कभी किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

जापान की लैण्ड-रिक्लेमिङ्ग सोसाइटी ने भी ऐसी ही एक योजना तैयार की है। योजना संक्षेप में यों है:—प्रत्येक को अपने हिस्से की जमीन पर इस शर्त पर काबिज रहने का अधिकार है कि वह उसके लिए एक निश्चित कर (टैक्स) दिया करे और इसलिए जिस व्यक्ति के पास अपने हिस्से से ज्यादा जमीन है, उससे वह अपने हिस्से की जमीन मांग सकता है। परन्तु मेरी राय में तो सबसे अधिक न्याय्य और व्यवहार्य्य योजना हेनरी जार्ज की है जो 'सिंगल टैक्स सिस्टम' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेनरी जार्ज की तैयार की गई योजना मुझे तो सबसे अधिक न्याय-युक्त, लाभ-प्रद और सबसे अधिक व्यवहार्य दिखाई देती है। संक्षेप में उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी स्थान में सारी जमीन के मालिक दो जमींदार हैं। इनमें से एक बहुत धनवान और दूर देश में रहने वाला है, और दूसरा इतना धनवान तो नहीं, पर अपनी जमीन आप जोतता-बोता है—और लगभग सौ किसान हैं जिनके पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है। इसके अतिरिक्त, उसी स्थान में ऐसे बहुत से मजदूर पेशा आदमी शिल्पकार, व्यापारी लोग (सौदागर) और सरकारी कर्मचारी रहते हैं, जिनके पास कोई जमीन नहीं है। मान लीजिए, इस स्थान के सब निवासी इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि कुल जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति है। तब वे इस विश्वास के अनुसार उस जमीन का बंटवारा कैसे करें ?

सभी ऐसे लोगों से, जिनके पास जमीन है, उस कुल जमीन का ले लेना और प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार जमीन का उप-भोग करने की इजाजत दे देना तो असम्भव है। क्योंकि एक ही किस्म की जमीन के लिए बहुत से उम्मीदवार खड़े हो जायंगे और उनमें ऐसे

झगड़े पैदा हो जायंगे जिनका कभी अन्त ही न होगा। सबके लिए सम्मिलित होकर जमीन का जोतना-बोना, निराना और फसल काटना और तैयार करना और बाद में उसका आपस में बांट लेना भी व्यवहार्य न होगा, क्योंकि कुछ लोगों के पास तो हल, बैल और गाड़ियां हैं, दूसरों के पास नहीं हैं। इसके अलावा, कुछ लोगों को जमीन जोतने-बोने का न तो काफी अनुभव है और न खेती का आवश्यक ज्ञान। जन-संख्या के अनुसार एक प्रकार की जमीन को बराबर-बराबर हिस्सों में बांटना भी बहुत कठिन होगा। यदि प्रत्येक किस्म की जमीन बहुत से छोटे-छोटे हिस्सों में बांट ली जाय, जिससे प्रत्येक मनुष्य को जोतने-बोने और जंगल आदि के लिए उत्तम, मध्यम, निकृष्ट सभी प्रकार की जमीन का अलग-अलग हिस्सा मिल जाय, तो आवश्यकता से अधिक बहुत-से छोटे-छोटे हिस्से बढ़ जायंगे।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार जमीन का बांटना और भी अधिक भयंकर इसलिए होगा कि जो लोग काम करना नहीं चाहते या जो बहुत ज्यादा गरीब हैं, वे रुपया लेकर अपनी जमीन धनी जनों के हवाले कर देंगे और फिर बड़े-बड़े जमींदारों की संख्या बढ़ जायगी। इसलिए इस स्थान के निवासी यह तय करते हैं कि जमीन को उन्हीं लोगों के हाथ में छोड़ दिया जाय जिनके कब्जे में वह है, और यह तय कर लिया जाय कि इस जमीन के बदले जमीन के मालिक सार्वजनिक कोष में एक निश्चित रकम दे दिया करें जो उनके कब्जे की जमीन से उस पर कब्जा करने वाले की होती। पर यह रकम उस मेहनत से नहीं तय की जाय जो कि उस जमीन पर की गई है बल्कि उस जमीन की किस्म और स्थिति से आंकी जाय और अन्त में इस स्थान के निवासी इस रकम को आपस में बराबर बांट लेने का निश्चय करते हैं।

लेकिन जिन लोगों के कब्जे में जमीन है, उनसे रुपये वसूल करना और प्रत्येक मनुष्य को बराबर बांटना एक बहुत जटिल समस्या है। इसके अतिरिक्त सभी निवासियों को पाठशाला, प्रार्थना-मन्दिर, आग

बुझाने के इन्जन, गोशालाएं, सड़कों आदि की मरम्मत कराने इत्यादि सार्वजनिक कामों के लिए रुपया देना पड़ता है और यह रुपया सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए हमेशा काफी नहीं होता। इसलिए इस स्थान के निवासी जमींदारों से जमीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने, उसे सब लोगों में बांट देने और फिर टैक्स के लिए उसे वसूल करने के बदले, यह निश्चय करते हैं कि जमीन से होने वाली सारी आमदनी तहसील वसूल कर ले और उसे सार्वजनिक आवश्यकताओं में खर्च करे।

इस निर्णय पर पहुंचने के पश्चात् वे निवासी जमींदारों से उनके कब्जे की जमीन के हिसाब से रुपया तलब करते हैं और जिन किसानों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है उनसे भी रुपया तलब करते हैं। परन्तु उन थोड़े से आदमियों से कोई भी रकम तलब नहीं की जाती जिनके पास कुछ भी जमीन नहीं है, किन्तु जमीन से होने वाली आमदनी से जो भी संस्थाएं तैयार की गई हैं, उनका उपयोग बिना कुछ दिये मुफ्त में करने की उन्हें इजाजत दे दी जाती है।

इसका परिणाम यह होता है कि जो जमींदार अपनी जमीन पर नहीं रहता है और उससे बहुत कम पैदा करता है, उसे इस प्रकार टैक्स देते हुए जमीन पर अपना कब्जा बनाये रखने से कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता और इसलिए वह उसे छोड़ देता है। पर वह दूसरा जमींदार जो एक अच्छा किसान है, अपनी जमीन के सिर्फ एक हिस्से को ही छोड़ता है और अपने लिए इतनी जमीन बनाये रखता है जिससे वह उतने रुपये से ज्यादा पैदा कर सके जो उससे ऐसी जमीन का इस्तैमाल करने के लिए मांगा जाता है।

जिन किसानों के पास जमीन थोड़ी है, जिनके पास काम करने वाले ज्यादा और जमीन कम है तथा जिनके पास जमीन बिलकुल नहीं है पर जो अपनी जीविका का उपार्जन जमीन के ऊपर परिश्रम करके करना चाहते हैं, वे जमींदारों द्वारा छोड़ी गई इस जमीन को अपने

कब्जे में ले लेते हैं। इस तरह उस स्थान के सभी निवासियों के लिए जमीन पर रहना और उससे अपनी जीविका उपार्जन करना सम्भव हो जाता है, और कुल जमीन उन लोगों के हाथ में चली जाती है या उनके कब्जे में बनी रहती है, जो उस पर काम करना चाहते हैं और जिनमें अधिकाधिक पैदा करने का सामर्थ्य है। साथ ही उस स्थान की सार्वजनिक संस्थाओं में भी उन्नति होती जाती है, क्योंकि इस योजना द्वारा सार्वजनिक कामों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक रुपया मिलता है। और इन सबके अलावा जमीन के सम्बन्ध में यह सारा परिवर्तन बिना किसी लड़ाई-झगड़े या रक्त-पात के ही हो जायगा, क्योंकि जिन लोगों को खेती करने से कोई लाभ नहीं है वे अपनी इच्छा से ही जमीन को छोड़ देंगे। यही हेनरी जार्ज की योजना (स्कीम) है, जो भिन्न-भिन्न राज्यों, तथा सारे मानव-समाज के लिए भी, अनुकूल सिद्ध हुई है।

अब मैं संक्षेप में अपनी बातों को फिर दुहरा देना चाहता हूँ।

श्रम-जीवियो, मैं तुम्हें पहली सलाह यह देता हूं कि तुम पहले यह समझ लो कि तुम्हें आवश्यकता किस बात की है। व्यर्थ में उस वस्तु के प्राप्त करने का कष्ट न उठाओ जिसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है। तुम्हें आवश्यकता सिर्फ जमीन की है— जिस पर तुम रह सको और जिससे तुम अपना भरण-पोषण कर सको।

दूसरे, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि इस बात पर तुम लोग अच्छी तरह विचार कर लो कि किन उपायों से तुम जमीन को, जिसकी तुम्हें आवश्यकता है, प्राप्त कर सकते हो। इसे तुम रक्त-पात करके नहीं प्राप्त कर सकते—ईश्वर तुम्हें ऐसी बेवकूफी से बचावे। भय-प्रदर्शन, हड़ताल अथवा पार्लमेण्ट में अपने प्रतिनिधि भेजकर भी यह काम नहीं हो सकेगा। इसका सरल उपाय है उन कार्यों में भाग लेने से इन्कार कर देना जिन्हें तुम बुरा समझते हो; अर्थात् यह कि तुम्हें सरकारी सेना के सैनिक बनकर और रक्त-पात करके अथवा जमींदारों की

जमीन पर काम करके या उसको लगान पर लेकर जमीन को वैयक्तिक संपत्ति बनाने वाले अनौचित्य का समर्थन न करना चाहिए।

तीसरे, यह तो सोचो कि जिस समय जमीन जमींदारों के चंगुल से निकलकर स्वतंत्र सार्वजनिक संपत्ति बन जायगी उस समय तुम उसका बंटवारा किस प्रकार करोगे? तुम्हें यह न समझना चाहिए कि जो जमीन जमींदार छोड़ देंगे वह तुम्हारी संपत्ति होगी। किन्तु तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि जमीन का बंटवारा न्यायोचित और बिना किसी पक्षपात अथवा द्वेषभाव के सब लोगों में समान रूप से होना जरूरी है। और इसलिए यह आवश्यक है कि भौमिक संपत्ति पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न माना जाय, चाहे वह जमीन एक ही गज क्यों न हो।

सूर्य की गरमी और वायु के समान जमीन को सब मनुष्यों की सम्मिलित सम्पत्ति मानकर ही, तुम बिना किसी को हानि पहुंचाये न्याय-पूर्वक किसी भी नवीन या पुरानी योजना के अनुसार, जिसे तुम सब लोग मिलकर सोचो और पसन्द करो, जमीन को सब मनुष्यों को बांट सकोगे।

चौथे, और यह खूब ध्यान से सुनने की बात है; मैं तुम्हें यह सलाह दूंगा कि जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसके प्राप्त करने के लिए तुम्हें शासकों के साथ कोई लड़ाई-झगड़ा या रक्त-पात करने अथवा साम्यवादियों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं है। सबसे पहले तो तुम्हें स्वयं अपना जीवन उत्तम और सदाचारपूर्ण बनाने की जरूरत है। लोगों का जीवन इसीलिए खराब हो रहा है कि वे बुरा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। यह ख्याल मनुष्य जाति को बेहद हानि पहुंचा रहा है कि उनकी दुरवस्था का कारण उनके भीतर नहीं बल्कि बाह्य संसार में है। यदि कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज यह समझता है कि जिन बुराइयों का यह अनुभव कर रहा है उनका मूल बाह्य जगत् में है और फिर इसके अनुसार इन बाहरी बातों के

सुधार और परिवर्तन में लग जाता है; तो उसकी बुराइयां और भी बढ़ती जायंगी और उसकी दशा और भी बिगड़ती जायगी। लेकिन अगर कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज वास्तव में इन कारणों का शीघ्र पता लगाना चाहता है और यह चाहता है कि वे आप-से-आप नष्ट हो जायं, तो उसके लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि वह सच्चे हृदय से अपने ऊपर विचार करना आरम्भ कर दे, और जिन बुराइयों का वह मनुष्य अथवा समाज शिकार हो रहा है, उनके मूल कारणों को अपने ही अन्दर खोजे।

"पहले तू ईश्वर के साम्राज्य और सत्य की खोज कर, बाकी बातें तुझे आप-से-आप प्राप्त हो जायंगी।"[1] यह मानव-जीवन का मूल नियम है। ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सदाचार-विहीन जीवन व्यतीत करने से तुम्हारे हजार प्रयत्न करने पर भी तुम्हें अभीष्ट सुख और शान्ति नहीं मिल सकेगी। इसके विपरीत सुख और शान्ति की कोई पर्वाह न करो, केवल ईश्वर की आज्ञा के अनुसार न्यायानुकूल और सदाचार-मय जीवन व्यतीत करते रहो, आप-से-आप तुम्हें वह सब सुख प्राप्त हो जायगा और सो भी इस तरह कि जिसका तुमने कभी खयाल भी नहीं किया हो। यह बात बिलकुल स्वाभाविक है कि जिस दरवाजे के पीछे हमारी अभीष्ट वस्तु रक्खी हुई है उसके पार पहुंचने का हम प्रयत्न करें, विशेषकर उस समय, जब कि हमारे पीछे आदमियों की भीड़ खड़ी हुई हो और वह हमें धक्का देकर, मानों पीसकर आगे की ओर बढ़ने के लिए हमें मजबूर कर रही हो। तथापि इस तरह जितना ही अधिक हम उस दरवाजे के बाहर निकल भागने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही कम आशा हमारे उस पार पहुँचने की होती जाती है क्योंकि वह दरवाजा हमारी ही ओर को खुलता है।

इसलिए सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी बाह्य परिस्थिति का सुधार करने की नहीं बल्कि स्वयं अपना, अपने

---

[1] मत्ती, ६—३३

अन्तःकरण का सुधार करने की आवश्यकता है। उसे चाहिए कि वह बुरे कामों को करना छोड़ दे, और अच्छे कामों का करना आरम्भ कर दे। सुख और शान्ति के मार्ग में लगे हुए द्वार हमेशा उस मनुष्य की ओर ही खुला करते हैं जो उनके पार पहुंचने के लिए उन्हें खोलने का प्रयत्न करता है।

यदि तुम समझते हो कि सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिए तुम्हें ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार प्राणि-मात्र के साथ भ्रातृ-भाव से रहना चाहिए, अर्थात् दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो तुम चाहते हो दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें, तो जितना ही अधिक तुम इस सिद्धान्त को समझोगे और समझ कर उसे कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न करोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वह शान्ति भी प्राप्ति होगी जिसके पाने के तुम इच्छुक हो और तुम्हारे इस दास्य-जीवन (गुलामी) का अन्त हो जायगा।

अन्त में मैं तुम्हें यही कहूँगा, "सत्य को पहचानो, वही तुम्हें स्वतन्त्र करेगा।"

(४)

एक-मात्र उपाय

"All things, therefore, whatsoever ye would that men should do unto you, even so do ye also unto them:—for this is the law and the Prophets."—

Matt. vii. 12.

अर्थात् जो कुछ तुम चाहते हो कि दूसरे लोगों को तुम्हारे साथ करना चाहिए, वही तुम उनके साथ भी करो; क्योंकि कानून और धर्म दोनों की यही आज्ञा है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

(१)

संसार में श्रमजीवियों—मजूरों की संख्या एक अरब से भी ऊपर है। खाने-पीने की सारी सामग्री, संसार की वे सारी वस्तुएं, वे सारी चीजें जिनके ऊपर लोगों की जीविका निर्भर है, और जिनसे लोग अमीर हैं—इन श्रम-जीवियों के ही परिश्रम से उत्पन्न होती है। परन्तु इन सबसे वह लाभ नहीं उठा सकता जो इन चीजों को बनाता है। लाभ उठाती है सरकार और धनिक समाज। श्रम-जीवी बेचारे निरंतर दुःख-दारिद्र्य, अज्ञानांधकार और दासता के बन्धन में ही पड़े रहते हैं और जिन लोगों के लिए वे भोजन और वस्त्र तैयार करते हैं, मकान बनाते हैं तथा अन्य सेवा कार्य करते हैं; वे ही उन्हें अनादर और तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहते हैं।

जमीन मजूर के हाथ से निकाल ली जाती है और वह उन लोगों की सम्पत्ति बना दी जाती है, जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते, जिसके कारण जमीन से जीविका उपार्जन करने के लिए उस पर परिश्रम करने वाले मनुष्य को उस जमीन के मालिक के अधीन होकर वह सारा काम करना पड़ता है, जिसके लिए वह आज्ञा दे। यदि श्रम-जीवी मनुष्य जमीन से अपना सम्बन्ध त्यागकर, किसी की नौकरी करने लग जाता है, अथवा मिलों या कारखानों में काम करने लग जाता है; तो वह दूसरे धनीजनों का दास बन जाता है; यहां पर उसे वेतनदाता के लिए जीवन-भर दस-दस, बारह-बारह, चौदह-चौदह घंटे अथवा उससे भी अधिक समय तक काम करना पड़ता है। बीच में विश्राम का नाम नहीं। काम भी एक ही प्रकार का और थका देने वाला होता है, जिसका वह कभी भी अभ्यस्त नहीं रहा है—अभ्यस्त क्या हो, जिसकी उसे कल्पना भी नहीं होती—बिलकुल अपरिचित। फल यह होता है कि वह सुख, शान्ति और स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है। यदि वह इस योग्य है कि जमीन पर बस जाय अथवा काम पा जाय, जिससे बिना किसी कठिनाई के वह अपनी जीविका का उपार्जन कर सके, तो भी उसकी जान नहीं बचती; बल्कि उससे तरह-तरह के टैक्स मांगे जाते हैं। उसे स्वयं भी तीन, चार अथवा पांच वर्ष तक सेना के खर्चों के लिए कर देने को वह बाध्य किया जाता है। अगर बिना कुछ रुपया खर्च किये ही मुफ्त में वह जमीन को काम में लाना चाहता है, हड़ताल आदि का प्रबन्ध करना चाहता है अथवा अपनी जगह पर दूसरे श्रम-जीवियों को काम करने से रोकना चाहता है, या टैक्स देने से इन्कार करता है, तो उसकी हड्डियों की मरम्मत करने के लिए फौजें भेजी जाती हैं, जो उसे घायल कर देती हैं, मार डालती हैं अथवा पहले की भांति फिर काम करने और टैक्स देने के लिए उसे बाध्य करती हैं।

इस प्रकार समस्त संसार के श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं बल्कि भार-वाहक पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने जीवन-भर

ऐसा काम करने के लिए बाध्य किये जाते हैं, जिसकी उन्हें नहीं, उनके पीड़कों को आवश्यकता है। इसके बदले में उन्हें इतना ही भोजन-वस्त्र तथा अन्य आवश्यक चीजें मिलती हैं कि जिससे वे बिना किसी रुकावट के निरन्तर परिश्रम कर सकें। इसके विपरीत वे थोड़े से लोग जो श्रम-जीवियों के ऊपर शासन करते हैं, उन लाखों-करोड़ों मजूरों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते हैं और आलस्य और विलासिता में जिन्दगी बरबाद करते रहते हैं। यह कैसी अनीति है !

(२)

मास्को में निकोलस द्वितीय के राज्याभिषेक के समय लोगों को आमतौर पर अच्छी-अच्छी शराबें और पाव बांटे गये। लोग उस स्थान की ओर बढ़े जहां पर ये चीजें बांटी जा रही थीं। उस समय इतने जोर का रेल-पेल हुआ कि लोगों को अपने आपको संभालना मुश्किल हो गया। जो लोग आगे थे, उन्हें पीछे वालों ने इतने जोर का धक्का दिया कि वे ज़मीन पर गिर पड़े। इन लोगों के भी पीछे जो लोग खड़े थे, उन्होंने इन्हें चटनी कर डाला। चूँकि उनमें से कोई भी यह नहीं देखता था कि आगे क्या हो रहा है, इसलिए वे सभी एक दूसरे को धक्का दे-देकर गिराते और कुचलते रहे। जो ताकतवर थे, उन्होंने निर्बलों को गिराकर रौंद डाला। इसके बाद काफ़ी हवा न मिलने और भीड़ को धक्कम-धुक्का से बलवानों का भी दम घुटने लगा और वे बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़े। अब जो लोग इनके पीछे खड़े थे, उन्हें पीछे से लोगों ने ऐसा धक्का दिया कि उनके भी पैर उखड़ गये थे और इस झोंके को सह न सकने के कारण वे अपनी जगह पर खड़े न रह सके और इन लोगों पर जा गिरे और उन्हें भी पीस डाला। इस प्रकार हज़ारों आदमी जिनमें वृद्ध और युवा, पुरुष और स्त्री सभी थे—व्यर्थ में मौत के शिकार हुए।

जब यह सारा तमाशा ख़तम हो गया, तो लोगों में यह विवाद छिड़ा कि इस सबके लिए कौन दोषी है। कुछ लोगों ने कहा, इसमें

पुलिस का दोष है। कुछ बोले—इसमें सारा दोष प्रबन्ध करनेवालों का है और कुछ लोगों ने कहा इसमें सारा अपराध जार का है जिन्होंने ऐसा भोज देने की मूर्खता-पूर्ण युक्ति निकाली है। सभी ने अपने आपको छोड़ बाकी लोगों पर दोषारोपण किया। पर यह बात बिलकुल साफ़ है कि इसमें दोषी वही लोग कहे जाने चाहिएं, जिन्होंने अपने पड़ोसियों से पहले रोटी का टुकड़ा और एक प्याला शराब पाने के लालच से, अपने साथी दूसरे लोगों का बिना कोई ख़याल किये, आगे बढ़ने की कोशिश की, और उन्हें जमीन पर गिराकर अपने पैरों तले कुचल डाला।

क्या ठीक, यही बात श्रम-जीवियों के साथ भी तो नहीं हो रही है? उनकी यह बुरी दशा इसीलिए है, उन्हें सारे कष्ट इसीलिए भोगने पड़ रहे हैं और वे इसीलिए दूसरों के गुलाम बने हुए हैं कि अपने थोड़े से अधम स्वार्थ के लिए वे अपने जीवन का सत्यानाश कर रहे हैं और अपने भाइयों की भी जिन्दगी बर्बाद कर रहे हैं।

श्रम-जीवी लोग प्रायः जमींदार, सरकार, कारखानों के मालिकों तथा सेना, सभी की शिकायत किया करते हैं। पर ये इस बात को नहीं सोचते कि जमींदार जमीन से केवल इसीलिए फायदा उठा सकते हैं, सरकारें इसीलिए कर (टैक्स) वसूल कर सकती हैं, कारखानों के मालिक श्रम-जीवियों से केवल इसीलिए अपने स्वार्थ का साधन करा सकते हैं और फौजें हड़तालियों का दमन करने में सिर्फ इसीलिए सफल होती हैं कि श्रम-जीवी लोग इन जमींदारों, सरकारों, कारखाने के मालिकों और फौजों को केवल सहायता ही नहीं पहुंचाते बल्कि स्वयं भी उन बातों को करते हैं जिनकी कि वे शिकायत किया करते हैं। क्योंकि अगर एक जमींदार बिना जोते-बोये हजारों एकड़ जमीन से फायदा उठाने में समर्थ होता है, तो वह सिर्फ इसीलिए कि श्रमजीवी लोग उसके वश में होकर अपने थोड़े से लाभ के लिए उसका काम करते हैं, उसकी चौकीदारी करते हैं, रखवाली करते हैं; और दल बनकर उसके सारे काम की देख-भाल करते हैं। इसी तरह सरकार भी श्रम-जीवियों से इसीलिए

टैक्स वसूल कर सकती है कि वे स्वयं, वेतन के लालच से, जो खुद उन्हीं से वसूल हुए रुपये में से दिया जाता है, गांव और जिले के अधिकारी टैक्स-कलेक्टर, पुलिस-मैन और चुङ्गी आदि के अधिकारी बनकर काम करते हैं, अर्थात् सरकार को उन तमाम बातों के करने में सहायता दिया करते हैं जिनकी वे खुद शिकायत करते हैं। श्रमजीवी लोग एक शिकायत यह भी करते हैं कि कारखाने के मालिक उनकी मजदूरी घटा देते हैं और अधिक-से-अधिक समय तक काम करने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। पर यह भी सब इसीलिए होता है कि श्रमजीवी लोग स्वयं चढ़ा-ऊपरी करके अपनी मजदूरी घटा देते हैं और कोठारी, ओवरसियर, चौकीदार और फोरमैन का काम करने के लिए कारखाने के मालिकों के हाथ अपने-आपको बेच देते हैं, और अपने मालिक के स्वार्थ के लिए अपने ही मजदूर भाइयों की तलाशियां लेते हैं, उन पर जुर्माने करते हैं और उन्हें तरह-तरह से हैरान और परेशान करते हैं।

अन्त में श्रमजीवियों को यह भी शिकायत है कि, अगर वे जमीन को अपने अधिकार में लेना चाहें जिसे कि वे अपनी संपत्ति समझते हैं, या वे टैक्स देने से इन्कार कर दें अथवा हड़ताल कर दें, तो उनके मुकाबिले के लिए फौजें भेजी जाती हैं। परन्तु इन फौजों के सिपाही वे ही श्रम-जीवी लोग हैं जो अपने स्वार्थ के लिए अथवा दण्ड के भय से फौज में भर्ती हो गये हैं और जिन्होंने अपनी आत्मा तथा ईश्वर के विरुद्ध इस बात की शपथ ले ली है कि वे उन सभी लोगों का वध करने में कोई संकोच न करेंगे जिनके लिए अधिकारी उन्हें आज्ञा देंगे।

इसलिए श्रम-जीवियों की सारी मुसीबतें स्वयं उन्हीं की पैदा की हुई हैं।

उन्हें आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे धनी-जनों तथा सरकार की सहायता करना बन्द कर दें और फिर उनके इन सारे दुःखों का अन्त आप-से-आप हो जायगा।

तो फिर क्या कारण है कि वे बराबर उन्हीं बातों को करते रहते हैं जो उनके नाश का कारण होती हैं ?

(३)

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"

हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों को इस ईश्वरीय आज्ञा का ज्ञान हुआ था। पारस्परिक व्यवहार की यह सर्वोत्तम नीति है। बाइबिल कहता है—"प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें।" इसी बात को चीन के महान् धर्माचार्य कनफ्यूशियस ने कहा है, "दूसरों के साथ वह बात न करो जो तुम नहीं चाहते दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

यह नियम बिलकुल साधारण है और हर एक आदमी की समझ में आ सकता है। वास्तव में इसके पालन से मनुष्य का सबसे अधिक कल्याण हो सकता है। इसलिए इसका ज्ञान होते ही मनुष्य को चाहिए कि वह जितनी जल्दी मुमकिन हो, उसके अनुसार आचरण करना आरम्भ कर दे तथा आगे आने वाली सन्तान को इस नियम की और उसके अनुसार आचरण करने की शिक्षा देने में अपनी सारी शक्ति लगा दे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले लोगों को इस नियम के अनुसार आचरण करना चाहिए था, क्योंकि इसकी शिक्षा कनफ्यूशियस और महात्मा बुद्ध तथा यहूदी उपदेशक हिलेल और ईसा-मसीह ने एक ही समय में दी थी।

विशेषकर ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाई-संसार के लोगों को तो इस नियम के अनुसार अवश्य आचरण करना चाहिए, क्योंकि वे उस इंजील को अपना मुख्य धर्म-ग्रन्थ मानते हैं जिसमें स्पष्ट रूप से इसी नियम को धर्म और कानून का सार बताया गया है अर्थात् इसी में वह सारी शिक्षा है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता है।

पर हजारों वर्ष बीतने पर भी लोग इस नियम के अनुसार आचरण

तो करते ही नहीं और न बच्चों को उसकी शिक्षा देते हैं; बल्कि कई लोग तो ऐसे हैं जो इसे जानते तक नहीं और यदि जानते भी हैं तो वे इसे या तो अनावश्यक समझते हैं या अव्यवहार्य मानते हैं।

पहले तो यह बात बिलकुल विचित्र-सी जान पड़ती है; परंतु जिस समय मनुष्य इस बात पर विचार करता है कि इस नियम का ज्ञान होने के पूर्व लोग किस प्रकार रहा करते होंगे, और वे इस प्रकार से कितने समय तक रहे होंगे, साथ ही यह नियम आधुनिक मानव-जीवन के सिद्धान्तों से कितने अंशों में भिन्न है, तो यह बात समझ में आजाती है कि इस नियम का पालन क्यों नहीं किया जा सका।

इसका कारण यह था कि लोगों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि सर्व साधारण के कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें। (यद्यिप यह तो साफ बदले की नीति है) इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरे मनुष्यों के ऊपर इतनी अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता था, जितनी कि उससे हो सकती थी।

इसके पश्चात् उस शक्ति से बेरोक लाभ उठाने के अभिप्राय से अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में उसे रहना पड़ता और उनकी सहायता करनी पड़ती थी। पुनः इन शक्तिशाली मनुष्यों को फिर अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में रहना पड़ता और उनकी सहायता करनी पड़ती थी।

इस तरह ऐसे समाज में, जो पारस्परिक व्यवहार की इस सीधी नीति से (अर्थात् दूसरों के साथ वही करना जो मनुष्य चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें), बिलकुल अनभिज्ञ है, हमेशा अल्प-संख्यक मनुष्य बाकी आदमियों के ऊपर शासन किया करते हैं।

जिस समय मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान हुआ, उस समय वे अल्प-संख्यक सत्ताधारी नहीं चाहते थे कि वे स्वयं उस नियम को स्वी-

कार करें। वे तो उलटा यह चाहते थे कि जिन लोगों पर वे अपना आधिपत्य जमाये हुए थे, वे भी उस बात को न समझें और न उसे अपनायें।

दूसरों पर आधिपत्य रखने वाला वह थोड़े से लोगों का गिरोह इस बात को भली प्रकार जानता था और अब भी जानता है, कि उसको जो यह शक्ति प्राप्त हुई थी और इस समय भी प्राप्त है उसका कारण क्या है? यह शक्ति उसे इसीलिए प्राप्त है कि जिन लोगों पर वह शासन करता है वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और हमेशा एक-दूसरे को नीचा दिखाने तथा उसे अपनी अधीनता में बनाये रखने का प्रयत्न किया करते हैं, और इसलिए सत्ताधारी अपने शासित लोगों से इस नियम को छिपाये रखने के लिए अपनी शक्ति-भर यत्न करते रहे हैं और कर रहे हैं।

यह नियम इतना सरल और सर्व-साधारण के समझने योग्य है कि सत्ताधारी इस नियम को न तो छिपा सकते और न उसे अस्वीकार ही कर सकते हैं। पर लोगों को भुलावे में डालने के लिए वे ऐसे सैकड़ों हजारों दूसरे नियम उनके सामने पेश कर देते हैं जिन्हें वे इस सुवर्ण-नीति से कहीं अधिक आवश्यक और उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मान्य बतलाते हैं।

इनमें से थोड़े आदमी अर्थात् धर्माधिकारी लोग सैकड़ों ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों, पूजन-पाठ की विधियों, देवार्चना और प्रार्थना आदि के नियमों की शिक्षा देते हैं जिनका इस उच्च व्यवहार-नीति से जरा भी संबंध नहीं है और उन्हें ही सबसे अधिक आवश्यक ईश्वरीय नियम बतलाते हैं। वे यह भी डर बताते हैं कि इनके अनुसार आचरण करने में कहीं असावधानी होगी तो मनुष्य का इहलोक और परलोक दोनों सदैव के लिए बिगड़ जावेंगे।

कुछ लोग अर्थात् शासक-समाज के लोग धर्माधिकारियों द्वारा आविष्कृत इस शिक्षा को स्वीकार कर आगे बढ़ते हैं और इसके आधार

पर ऐसे राजनीतिक नियमों की रचना करते हैं जो उपर्युक्त व्यवहार-नीति के सर्वथा विरोधी हैं। वे दण्ड का भय दिखलाकर सबको अपने नियमों का पालन करने की आज्ञा करते हैं।

पर कुछ लोग इनसे भी बढ़े-चढ़े हैं—विद्वान् और धनी। वे न तो ईश्वर को मानते हैं और न किसी ऐसे ईश्वरीय आदेश को स्वीकार करते हैं, जिसका पालन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो। वे कहते हैं–विज्ञान और उसके नियमों के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है, विद्वान् लोग इनकी खोज करते हैं और अमीर लोग उन्हें सीखते हैं। वे कहते हैं कि सर्वसाधारण को लाभ पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षालयों; व्याख्यानों, नाटकों, क्रीड़ा-स्थलों, चित्र-शालाओं और सभाओं के जरिये सबको उनकी शिक्षा दी जाय। और सब लोग अपना भी जीवन उसी प्रकार आलस्यमय बनावें जैसा कि, विद्वानों और अमीरों का होता है। और तब, वे जोरों से प्रतिपादन करते हैं, कि वे तमाम बुराइयां, जो श्रम-जीवियों के दुःख-दारिद्र्य और कष्ट का कारण हो रही हैं, आपसे आप नष्ट हो जायंगी।

इनमें से किसी भी श्रेणी के मनुष्य उस सुवर्ण-नियम को अस्वीकार नहीं करते, किन्तु इसके साथ-साथ वे भांति-भांति के इतने धार्मिक राजनीतिक तथा वैज्ञानिक नियम तैयार करके रख देते हैं कि उनके बीच में किसी का ध्यान उस ईश्वरीय नियम की ओर नहीं जाने पाता, जो बिलकुल सरल एवं सुबोध है और जिसके पालन करने से अवश्य ही अधिकांश जन-समाज का दुःख, दारिद्र्य एवं कष्ट छूट सकता है।

यही कारण है, जिससे सरकार तथा धनिक-समाज द्वारा पीड़ित श्रम-जीवी पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने तथा अपने भाइयों के जीवन का सत्यानाश किया करते हैं, अपनी दशा सुधारने के लिए ईश्वर-प्रार्थना, पूजा करना, चुप-चाप शासकों की आज्ञाओं का पालन करना, सभाएं करना, असोसियेशन कायम करना, व्यापारिक संस्थाएं खोलना, हड़ताल करना, क्रान्ति करना इत्यादि दुनिया भर के जटिल, कुटिलतापूर्ण अथवा कठिन

साधनों का आश्रय लिया करते हैं। किन्तु वे इस एक मात्र उपाय से काम नहीं लेते, उस ईश्वरीय आज्ञा का पालन नहीं करते, जो निश्चित रूप से उन्हें अपने दुःखमय जीवन से मुक्त कर सकता है।

(४)

धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक झगड़ों की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकने वाले कहेंगे—"परन्तु क्या यह सम्भव है कि—"आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति" अथवा "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" (अर्थात्–'लोगों को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें।') जैसे सूत्रों में सम्पूर्ण ईश्वरीय आज्ञा और मानव-धर्म का सार पूर्ण रूप से आ जाय ?"

ऐसे लोग यह समझते हैं कि ईश्वरीय आज्ञा तथा मनुष्य के धर्म का प्रतिपादन सीधी और सरल भाषा में नहीं हो सकता बल्कि विस्तार-पूर्ण एवं जटिल सिद्धान्तों के रूप में उसका समझाया जाना जरूरी है।

यह बात बिलकुल सत्य है कि यह सब बहुत छोटा और सरल है, परन्तु इसका छोटापन और सरलता ही इस बात का प्रमाण है कि यह एक सच्चा, स्पष्ट, त्रिकाल टिकनेवाला और धर्म-सम्मत नियम है—ऐसा ईश्वरीय नियम है, जो मनुष्य-जाति के हजारों वर्ष के अनुभव का निष्कर्ष है, यह किसी ऐसे एक मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज का बनाया हुआ नियम नहीं, जो अपने आपको धर्म (चर्च) के रक्षक शासक या वैज्ञानिक कहते हैं। राज्य के कानूनों एवं विज्ञान की पोथियों में बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें हो सकती हैं। उनमें कई बातों की गहरी और क्लिष्ट चर्चा की गई है। वह सब बुद्धि-युक्त और महत्त्वपूर्ण भले ही हो, पर इन बातों को केवल थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं। किन्तु, यह नीति ऐसी है जिसे सब समझ सकते हैं और उस पर अमल भी कर सकते हैं। जाति, धर्म, विद्या, वय, देश किसी बात की कैद नहीं।

धार्मिक, राजकीय अथवा वैज्ञानिक दलीलें, जो किसी एक स्थान और एक समय में सही मान ली गई हैं, दूसरे स्थान और दूसरे समय में गलत हो सकती हैं। परन्तु यह व्यवहार-नीति ऐसी है, जो त्रिकाल सत्य है, जिन लोगों ने भी उसे एक बार समझ लिया है उनके लिए वह हमेशा सही बनी रहेगी।

दूसरे नियमों में और इस नियम में एक मुख्य अन्तर है। इन तमाम धार्मिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक नियमों से लोगों को न सच्ची शान्ति मिलती है और न उनका कल्याण ही होता है। सच तो यह है कि इन नियमों की बदौलत ही लोगों में अधिकाधिक वैर-भाव एवं दुःख-दारिद्र्य की वृद्धि होती है।

इसके विपरीत हमारी व्यवहार-नीति से—आचार के इस सुवर्ण सूत्र से मनुष्य को सच्चा सुख, प्रेम और शान्ति प्राप्त हो सकती है। उसका लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। बस, आदमी सिर्फ एक बात को मान ले और उस पर अमल करे—कभी दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार न करे, जो हमारे साथ होने पर हमें नापसन्द हो। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ?" यह नीति अत्यन्त लाभप्रद एवं मनुष्य-जाति का उपकार करने वाली है; हां यदि लोग इस पर अमल करें। यह मानव-समाज के सभी पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है। द्वेष तथा लड़ाई-झगड़े के स्थान पर प्रेम-भाव तथा सेवा-भाव की प्रतिष्ठा करती है। यदि मनुष्य अपने आपको ऐसे धोखादेह नियमों से बचा ले जो इस नीति को अपने जाल में छिपाये हुए हैं, यदि मनुष्य उसकी आवश्यकता और मानव-जीवन के लिए उपयोगी नीति को समझ ले तो एक ऐसे नवीन अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाय जो सब मनुष्यों के लिए एक-सा उपकारी और संसार का सबसे अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विज्ञान होगा। ऐसा विज्ञान जो उस नियम के आधार पर यह शिक्षा देता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा व्यक्तियों और समाजों के बीच होने वाले झगड़ों का अन्त किस प्रकार

किया जा सकता है। और अगर इस अपूर्व विज्ञान का अविष्कार हो जाय, वह जड़ पकड़ जाय, उसका अध्ययन किया जाय तथा आजकल के हानिकर धार्मिक मिथ्या विश्वासों तथा प्रायः अनुपयोगी अथवा नाशक विज्ञानों की शिक्षा के स्थान पर नवयुवकों और बालकों को उसकी शिक्षा भी दी जाय, तो मनुष्यों का सारा जीवन ही बदल जाय और इसी के साथ-साथ उस कष्टमय परिस्थिति का भी परिवर्तन हो जाय जिसमें अधिकांश जन-समाज इस समय जीवन बिता रहा है।

(५)

बाइबिल में यह बतलाया गया है कि इस व्यवहार-नीति का प्रादुर्भाव होने के पूर्व परम पिता परमेश्वर ने मनुष्य को 'अपना कानन' दिया।

इस कानून में यह आज्ञा की गई थी कि "किसी का वध न कर।" यह आज्ञा भी अपने समय में उतनी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थी कि जैसी बाद में सूझी हुई व्यवहार-नीति। पर इस आज्ञा की भी वही दुर्दशा हुई, जो इस सदाचार-सूत्र की हुई। लोगों ने प्रकट में तो उसका कोई विरोध नहीं किया, किन्तु इस सदाचार-सूत्र के समान यह भी दूसरे नियमों तथा राजाज्ञाओं के जाल में पड़कर लुप्त हो गई, जो इस प्रेमधर्म या अहिंसा के समान ही अथवा उसकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। अगर धर्म-ग्रन्थों में केवल यही एक आज्ञा होती कि "किसी का वध न करो" तो लोगों को यह स्वीकार करना पड़ता कि इसका मानना अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता और इसका स्थान कोई दूसरा कानून नहीं ले सकता। साथ ही अगर लोगों ने भी इसी कानून को ईश्वर की एक-मात्र आज्ञा मान लिया होता और उस कड़ाई के साथ उसका पालन भी करते, जितनी कि वे धर्म के दूसरे आडम्बरों की रक्षा के लिए काम में लाते हैं, तो भी मनुष्य का सारा जीवन एक भिन्न ही रूप धारण कर लेता, और युद्ध तथा गुलामी की जरा भी सम्भावना न रह जाती। अगर

ऐसा होता तो न धनवान निर्धनों से जमीन छीन सकते न मुट्ठी-भर आदमी बहुत से श्रम-जीवियों की कमाई आजकल की तरह हड़प कर सकते, क्योंकि इन सबकी जड़ भय-प्रदर्शन की नीति है। हां, यदि यही एक-मात्र ईश्वरीय नियम होता कि किसी का वध न करते तो संसार का स्वरूप आज जुदा ही होता। परन्तु दुर्भाग्य-वश और आज्ञाएं भी धर्म-ग्रन्थों में दी गई जिन्हें कि एक आज्ञा के समान ही महत्त्व दिया गया। और अन्त में इनकी संख्या इतनी बढ़ गई कि यह ईश्वरीय-आज्ञा उस जाल में बिलकुल गुम गई। फल यह हुआ कि आज भी उसे उचित महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। यही बात उस व्यवहार-नीति के सम्बन्ध में भी हुई।

इसलिए बुराई की जड़ यह नहीं कि लोग ईश्वरीय आज्ञा को नहीं जानते। बल्कि बुराई की असली जड़ तो वे लोग हैं, जो ईश्वरीय आज्ञा के पालन को अपने लिए हानिकर समझते हैं। ये कौन हैं— धर्माधिकारी और शासक-वर्ग के थोड़े लोग, विद्वान् वैज्ञानिक और धनिक लोग जो इस ईश्वरीय आज्ञा का विरोध नहीं कर सकते, उसे झूठ भी साबित नहीं कर सकते, उसको नष्ट भी नहीं कर सकते, पर जो मनुष्य-समाज को भुलावे में डालने के लिए दूसरी सैंकड़ों शिक्षाओं का भी आविष्कार करते हैं और इन अपनी बताई शिक्षाओं को भी ईश्वरीय आज्ञा के समान महत्त्वपूर्ण बताते हैं। इसलिए अपनी इन तमाम मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य उन तमाम धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासों को छोड़ दे जो जीवन के आवश्यक और अनिवार्य नियमों के रूप में उनके सामने पेश किये गए हैं, और स्वीकार कर लें उस अटल सत्य और ईश्वरीय कानून को जो केवल थोड़े से मनुष्यों को नहीं, वरन् समस्त संसार भर के मनुष्यों को अधिक-से-अधिक सुख, समृद्धि एवं शान्ति दिला सकता है।

सरकारें और धनवान लोग उनके धन और जीवन का अपहरण करना बन्द कर दें, इस अभिप्राय से श्रम-जीवियों के लिए अपनी

गंदगी दूर कर देनी चाहिए। अपवित्रता गंदगी से पैदा होती है और दूसरे के शरीर के ऊपर पोषण उसी समय तक होता रहता है जबतक कि वे मैले रहते हैं। इसलिए श्रम-जीवियों के लिए अपनी इस दुःखा-वस्था से मुक्त होने का केवल एक ही उपाय है—वह यह कि वे अपनी शुद्धि करें। और उन्हें अपने-आपको शुद्ध करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि वे धार्मिक, राजकीय तथा वैज्ञानिक मिथ्या-विश्वासों से मुक्ति प्राप्त कर लें और ईश्वर तथा उसके कानून में विश्वास करें।

यही उनकी मुक्ति (आजादी) का सीधा और सच्चा मार्ग है।

वर्तमान समय में प्रायः दो प्रकार के श्रम-जीवी मिला करते हैं—शिक्षित और मामूली अशिक्षित आदमी। ये दोनों आधुनिक सभ्यता के विरोधी हैं और उसके प्रति रोष प्रकट करते हैं—शिक्षित श्रमजीवी न तो ईश्वर में विश्वास रखता है न उसके कानून में; वह मार्क्स, लैसले आदि (साम्यवाद के आद्य प्रणेता) पुरुषों को ही जानता है। वह बेबेल जारीस, आदि की पार्लमेंटों में होने वाले कार्यों का अनुगमन करता है, तथा जमीन के छीनने के काम करने के साधनों और उत्तराधिकार की प्रथा में जो अन्याय है उस पर लम्बे-चौड़े और सनसनी फैसला देने वाले व्याख्यान झाड़ता है; और अशिक्षित श्रम-जीवी, यद्यपि इन बातों से बिलकुल अनभिज्ञ है और उसको ईश्वर के त्रिमूर्ति अवतार और पाप-मोचन शक्ति आदि में विश्वास है, तथापि जमींदारों और पूंजीपतियों का तो वह उतना ही कट्टर विरोधी है और सम्पूर्ण वर्तमान संगठन को अनुचित मानता है। फिर भी आप इस श्रमजीवी को, चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, जरा इस बात का अवसर दीजिए कि वह दूसरों की अपेक्षा सस्ते दाम की चीजें तैयार करके अपनी दशा सुधार सके। यद्यपि इससे उनके सैकड़ों, हजारों और लाखों भाइयों का खून ही क्यों न हो जाय—अथवा कोई ऐसा मौका दीजिए जिससे वह बड़ी-बड़ी तनख्वाह के लालच से ऊंची-ऊंची जगहों पर पूंजीपतियों की नौकरी कर सके अथवा थोड़े से मज़दूरों को नौकर रखकर स्वयं कोई व्यापार

करना आरम्भ कर दे—तो आप देखेंगे कि हज़ार में प्रायः नौ सौ-निन्यानवें आदमी विवेक-शून्य होकर उस काम को करने लग जावेंगे और अपनी जमीन जायदाद की ऐसी रक्षा करेंगे जैसी शायद खानदानी जमींदार भी खुद न करते।

सेना में भर्ती होना अथवा सामरिक कोष के लिए मांगे जाने वाले टैक्सों को वसूल कराने में सहायता देना भी तो नैतिक दृष्टि से अनुचित है। यही नहीं बल्कि वह तो उनके तथा उनके साथियों, दोनों के लिए एक-सा हानि-प्रद है और इसी के कारण वे गुलाम बने हुए हैं। पर उस पर विचार करने का कोई कष्ट नहीं उठाता और सब लोग या तो खुशी-खुशी सैनिक खर्चों के लिए कर (टैक्स) देते चले जाते हैं या स्वयं सेना में भर्ती हो जाते हैं और ऐसे कामों को उचित समझते रहते हैं।

क्या यह सम्भव है कि ऐसे लोगों में से किसी भी ऐसे नवीन समाज का निर्माण किया जा सकता है जो वर्तमान सामाजिक संगठन से बिलकुल जुदा हो ?

श्रम-जीवी लोग अपनी इस दुरवस्था का सारा दोष जमींदारों, पूंजीपतियों तथा सैनिकों की अर्थ-लोलुपता और उनके अत्याचारों पर ही मढ़ते हैं। परन्तु प्रायः सभी श्रम-जीवी, जिन्हें ईश्वर तथा उसके कानून में कोई विश्वास नहीं है,स्वयं भी छोटे-छोटे जमींदार, पूंजीपति और अत्याचारी (सैनिक) हैं। फर्क सिर्फ यही है कि ये इतने छोटे हैं कि इन्हें बड़े-बड़े पूंजीपति, जमींदार, सिपाहियों की-सी सफलता नहीं मिल सकती।

एक ग्रामीण बालक अपनी रोजी की तलाश में एक नगर में अपने एक मित्र के पास आता है जो एक अमीर सौदागर के यहां कोचवानी करता है, और उससे यह प्रार्थना करता है कि वह प्रचलित नौकरी की दर से कम पर भी उसके लिए कोई जगह तलाश कर दे। वह ग्रामीण बालक ऐसी नौकरी करने को तैयार हो जाता है, परन्तु दूसरे दिन सवेरे आने पर नौकरों के कमरे में वह अकस्मात् यह सुनता है कि एक बुड्ढा

आदमी अपनी नौकरी से अलग कर दिया गया है; अब वह लाचार है और यह भी नहीं जानता कि किस प्रकार अपनी जीविका चलावे। बालक को उस बुड्ढे की दशा देखकर बड़ा दुःख होता है और वह दूसरे के साथ ऐसा काम न करने की इच्छा से, जो कि वह चाहता है दूसरा आदमी उसके साथ न करे, अपनी नौकरी छोड़ देता है। अथवा एक किसान है, जिस पर एक बहुत बड़े कुटुम्ब के भरण-पोषण का भार है; वह एक अमीर और जबर्दस्ती दूसरों का धन अपहरण करने वाले जमींदार के यहां अच्छी तनख्वाह के ऊपर कारिन्दगीरी का काम करना मंजूर कर लेता है। जब वह कारिन्दा यह देखता है कि उसके कुटुम्बियों को खूब अच्छी तरह खाने-पीने को मिल जाता है, तो वह अपनी इस नौकरी के ऊपर फूल उठता है। लेकिन ज्यों ही वह अपने काम का चार्ज लेता है, त्यों ही उसे किसानों के ऊपर उन जानवरों के लिए जुर्माना करना पड़ता है जो बड़े आदमियों के खेतों में भटक कर चले जाते हैं; उसे उन औरतों को पकड़ना पड़ता है जो ईंधन के वास्ते उस जमींदार के जंगल में लकड़ी बीनती हैं; और उसे मजदूरों की मजदूरी घटाना और उन्हें अपनी सारी शक्ति लगाकर काम करने के लिए मजबूर करना पड़ता है कि उसकी अन्तरात्मा उसे इन बातों के करने की आज्ञा नहीं देती। वह इन कामों के करने से इन्कार कर देता है और अपने घर वालों के बुरा-भला कहने पर भी अपनी नौकरी छोड़कर ऐसी जगह काम करने लग जाता है जहां पहले की अपेक्षा उसे कम आमदनी होती है। अथवा एक सिपाही अपने साथियों के सहित श्रम-जीवियों के साथ लड़ाई करने को बुलाया जाता है जो बागी हो गए हैं और उससे उन पर गोली चलाने को कहा जाता है। वह ऐसा करने से इन्कार कर देता है और इसलिए उसे उसके लिए कठिन दण्ड दिया जाता है। इन सब लोगों के ऐसा करने का कारण केवल यह है कि जो बुराई वे दूसरों के साथ करते हैं वह उन पर प्रकट हो गई है और उनका अन्तःकरण उन्हें साफ-साफ यह बतला देता है कि जो कुछ भी वे कर रहे हैं वह ईश्व-

रीय कानून के सर्वथा विरुद्ध है। अर्थात् यह कि मनुष्य को दूसरों के साथ ऐसी बात नहीं करनी चाहिए जिसे वह नहीं चाहता कि दूसरे लोग उसके साथ करें। अगर कोई श्रम-जीवी, मजदूरी को गिरा करके काम करना मंजूर करता है और यदि उसे दूसरे लोगों का ध्यान नहीं है तो इससे वह नुकसान कम नहीं हो जाता, जो वह अपने इस कार्य से अपने अन्य मजूर भाइयों को पहुँचाता है। हानि उस हालत में भी कम नहीं होती जब कोई श्रम-जीवी मालिकों की ओर मिल जाता है और जो कुछ हानि वह अपने भाइयों को पहुँचा रहा है उसे न तो देखता है और न उसे उसका खयाल ही होता है। यही बात उस आदमी के सम्बन्ध में भी है जो सेना में भर्ती हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर अपने भाइयों तक को मार डालने के लिए तैयार हो जाता है। अगर सेना में भर्ती होते समय उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि जिस समय वह बन्दूक और संगीनों का चलाना सीख जायगा, उस समय किन लोगों को और कहां पर वह मारेगा, तो भी इस बात को तो वह अवश्य ही समझ सकता है कि गोली चलाना और संगीनों से लोगों पर वार करना उसका काम होगा।

और इसलिए यदि श्रम-जीवी लोग अत्याचारों और दासता से अपना छुटकारा करना चाहें तो उन्हें चाहिए कि वे अपने अन्दर वह धार्मिक भाव उत्पन्न करें जो तमाम बुरे कामों को करने से मना करता है, जो उनके भाइयों की स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ देने वाले होते हैं, यद्यपि प्रकट में इस बुराई का पता नहीं चलता। धार्मिक दृष्टि से उन्हें चाहिए कि, यदि वे और तरह से गुजर कर सकते हैं तो पहले तो पूंजी-पतियों के लिए काम करना बन्द कर दें; दूसरे जो मजदूरी की शरह इस समय जारी है उससे कम के उपर काम करना स्वीकार न करें; तीसरे पूंजी-पतियों से मिलकर और उनके स्वार्थ के लिए काम करके अपनी दशा सुधारने का व्यर्थ प्रयत्न न करें; और चौथे और

मुख्यतः पुलिस में नौकरी करके अथवा चुंगी-घर या फौज में काम करके अथवा अन्य किसी तरह सरकार की ओर से किये जाने वाले अत्याचारों में कोई भाग न लें।

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से विचार करके अपने सारे कामों को करने से ही श्रम-जीवी लोग अपने इस दुःखमय जीवन से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि एक श्रम-जीवी अपने स्वार्थ अथवा भय के कारण सुसंगठित हत्यारों (खूनियों) की श्रेणी में अपना नाम लिखाने को तैयार है, अर्थात् वह सैनिकों में अपना नाम लिखा लेता है और उनकी अन्तरात्मा उसके इस कार्य की कुछ भी निन्दा नहीं करती; यदि अपनी सुख-समृद्धि बढ़ाने के लिए वह जान-बूझ कर अपने भाइयों के गले पर, जो उनकी अपेक्षा अधिक निर्बल और निर्धन हैं, छुरी फेरने और उनका धन अपहरण करने के लिए तैयार हो जाता है अथवा अपनी तनख्वाह के लालच से अत्याचारियों से मिल जाता है और उनके सब कामों में उनकी सहायता करता है तो उसे किसी भी बात के सम्बन्ध में कोई शिकायत न करनी चाहिए।

चाहे जिस हैसियत में भी वह रहे, वह हर हालत में या तो दलित है या दलन करने वाला। इसके सिवाय तो वह कुछ हो भी नहीं सकता। ईश्वर तथा उसके कानून में अगर उसे विश्वास न होगा तो मनुष्य सिवाय इसके कि अपने इस अल्प जीवन में अधिक-से-अधिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति कर ले, और किसी भी बात की मन में अभिलाषा नहीं रखता। इसका परिणाम दूसरे लोगों के लिए फिर चाहे कुछ भी क्यों न हों। और जिस समय हर एक आदमी यह चाहने लगता है कि उसे अधिक-से-अधिक सुख एवं समृद्धि की प्राप्ति हो, बिना इस बात का ख्याल किये हुए कि इससे दूसरे लोगों की हानि होती है अथवा लोग, उस समय ऐसे लोगों का, फिर समाज का संघटन किसी

भी प्रकार का क्यों न हो, एक 'कोन'-सा बन जाता है जिसकी चोटी पर शासक-मण्डल और नीचे की ओर उनके द्वारा शासित जनों का समुदाय है।

सरकारें

१. समाज-सुधारकों से अपील
२. स्वदेश-प्रेम और सरकार
३. साम्यवाद—राजकीय तथा धार्मिक
४. अराजकता
५. सुधार के तोन तरीके

[१]

समाज-सुधारकों से अपील

"The most fatal error that ever happened in the world was the separation of Political and Ethical Science."—Shelley.

अर्थात् संसार में जो सबसे बड़ी भयंकर भूल हुई है, वह राज-नीति का नीति-शास्त्र से अलग कर देना है। —शैली

अपने "श्रम-जीवियों के प्रति" शीर्षक लेख में मैंने यह राय जाहिर की है कि, यदि श्रम-जीवी लोग अपने-आपको इन कष्टों से उबारना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि वे स्वयं इस समय जिस प्रकार का जीवन बिता रहे हैं उसे, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए अपने पड़ोसियों से झगड़ना, छोड़ दें, और धर्म-ग्रन्थ में बतलाये नियम के अनुसार बरतें अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें।

पर जैसी कि मुझे आशा थी, भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार के लोगों ने एक स्वर से मेरे बताये मार्ग की निंदा की।

लोग कहते हैं "यह उपाय तो बिलकुल अव्यावहारिक है। अत्याचार और बल-प्रयोग से पीड़ितों की मुक्ति के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करते रहना, जब तक कि वे सब धर्मात्मा न बन जायं, वर्तमान बुराई को चुपचाप स्वीकार करना है—मनुष्य को अकर्मण्य (काहिल)

बना देना है।" क्योंकि न तो सब लोग धर्मात्मा बनेंगे और न उनकी मुक्ति की कोई सूरत ही होगी।

मैं इस सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना उचित समझता हूँ। मैं बता देना चाहता हूँ कि मैं इस उपाय को उतना अव्यवहार्य क्यों नहीं समझता जितना कि यह प्रतीत होता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि विज्ञान-वेत्ताओं ने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए जिन उपायों को बतलाया है, उन सबकी अपेक्षा इसकी ओर अधिक ध्यान रखा जाय। मैं यह शब्द उन लोगों से कहना चाहता हूँ जो सच्चे हृदय से, केवल शब्दों से ही नहीं वरन् कार्य-रूप में भी, अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं। इन्हीं लोगों को सम्बोधित करके मैं इस समय कुछ कहना चाहता हूँ।

(१)

सामाजिक जीवन के आदर्श, जिनके ऊपर मनुष्यों के सारे काम-काज होते हैं, बदलते रहते हैं, और उन्हीं के साथ-साथ मानव-जीवन का व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक समय वह था जब सामाजिक जीवन का आदर्श प्राणी-मात्र की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उस समय एक मनुष्य-समाज, जहां तक कि उससे हो सकता था, दूसरे मनुष्य-समाज का भक्षण कर जाता था। इस भक्षण शब्द का यहां पर यथार्थ तथा आलंकारिक दोनों अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसके बाद वह जमाना आया जब समाज का आदर्श हो गया व्यक्ति-विशेष का शक्ति-संचय करना। अब लोग कभी अपने शासकों की सत्ता के विरोधी हो जाते, तो कभी अपने-आप उत्साह के साथ-साथ उनकी सत्ता को कबूल कर लेते। इसके बाद, लोग जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श मानने लगे जिसमें मनुष्य-जीवन को सुव्यवस्थित और उसे समुचित रीति से संगठित करने के लिए शक्ति का आश्रय लिया जाने लगा। एक समय इस आदर्श को कार्य-रूप में लाने का उद्योग विश्व-व्यापी एक-तंत्र राज्य की स्थापना करना था, इसके पश्चात् राज-सत्ता धर्म के अधीन

हुई। बड़े-बड़े राजाओं को धर्माचार्यों के अधीन होना पड़ा। धर्म-सत्ता के बाद प्रतिनिधित्व के आदर्श का जन्म हुआ और तत्पश्चात् प्रजातन्त्र का। प्रजातन्त्र सब जगह एक-सा नहीं था, इसमें कहीं सर्व-साधारण को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था भी और कहीं नहीं भी था। इस समय इस आदर्श को आर्थिक संगठन के द्वारा कार्य-रूप में परिणत करने के प्रयोग हो रहे हैं। परिश्रम करने के समस्त साधन (औजार) अब किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति न रह जायंगे। बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति हो जायंगे।

ये आदर्श एक-दूसरे से चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, जीवन में उन्हें कार्य-रूप देने के लिए हमेशा शक्ति अनिवार्य मानी गई है—अर्थात् ऐसी बलवान् सत्ता की जिससे लोग तत्कालीन निश्चित कानून को मानने के लिए मजबूर किये जा सकें। इस समय भी वही बात है।

लोगों का ख्याल है कि मनुष्य-जाति का सबसे बड़ा हित-साधन सत्ता द्वारा हो सकता है। कुछ मनुष्यों के हाथों में अधिकार दे दिये जाने चाहिएं। (चीनियों के उपदेशानुसार ऐसे लोग सबसे अधिक धर्मात्मा होने चाहिएं। यूरोप की शिक्षा के अनुसार वे प्रजा-द्वारा निर्वाचित सदस्य होने चाहिएं) वे लोग अधिकार पाने पर उस संघटन की स्थापना और सहायता करेंगे जो मनुष्यों की कमाई स्वतंत्रता और जीवन की समुचित रक्षा की जिम्मेदारी ले सके। सभी लोग अर्थात् वे, जो वर्तमान राज्य-व्यवस्था को मानव-जीवन की आवश्यक शर्त मानते हैं और वे क्रान्तिकारी और साम्यवादी भी; जो इस वर्तमान राज्य-व्यवस्था को पलट देना आवश्यक समझते हैं, इस शक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हैं। और इस शक्ति या सत्ता के मानी क्या हैं? यही कि कुछ लोगों को यह अधिकार हो, और उनके लिए यह सम्भव भी हो कि वे दूसरे लोगों को बाध्य कर सकें कि वे निर्दिष्ट कानून को सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक शर्त मानें।

यही प्रथा प्राचीन समय से चली आई है और अब भी है। परन्तु जो लोग सत्ता की सहायता से कुछ नियमों को मानने के लिए बाध्य किये जाते थे, उन्होंने अर्थात् शासितों ने हमेशा इन नियमों को सर्वोत्कृष्ट नहीं माना और इसीलिए वे कभी-कभी सत्ताधारियों के विरुद्ध उठ खड़े होते, उन्हें गद्दी से नीचे उतार देते थे और पुरानी शासन-व्यवस्था के स्थान में नवीन शासन-व्यवस्था की स्थापना कर देते थे, जिसमें वे अपने को अधिक सुरक्षित समझते थे। तथापि मनुष्य के हाथों में सत्ता आते ही दिमाग पलट जाता था, इसलिए वे अपनी शक्ति का इतना अधिक उपयोग सर्व-साधारण के लिए नहीं करते थे जितना अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए। इसलिए नया शासन हमेशा पुराने शासन के ही समान बल्कि कभी-कभी उसकी अपेक्षा भी अधिक अन्याय-पूर्ण रहा है।

प्रचलित शासन के विरुद्ध बगावत करने वालों ने सदा विजय-प्राप्ति के बाद यही किया है। दूसरी ओर, जब विजय-श्री तत्कालीन शासकों के ही हाथ में रहती थी तो शासक लोग भी विजय होने के कारण हमेशा अपने संरक्षण के साधनों को और भी बढ़ा लेते थे, और इस प्रकार अपने नागरिकों की स्वाधीनता के लिए और भी अधिक हानि-कारक हो जाते थे।

ऐसा ही हमेशा भूत और वर्तमान काल में होता आया है। पर सम्पूर्ण १६ वीं शताब्दी में हमारे यूरोपीय संसार में जिस प्रकार से यह सब हुआ है, उससे एक विशेष ही प्रकार की शिक्षा मिलती है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रायः क्रान्तियों से विजय प्राप्त होती रही। परन्तु जिन अधिकारियों ने पुराने शासकों का स्थान ग्रहण किया—उदाहरणार्थ नेपोलियन प्रथम, चार्ल्स दशम, नेपोलियन तृतीय आदि—उन्होंने नागरिकों की स्वाधीनता को नहीं बढ़ाया। और १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, सन् १८४८ ई० के बाद, क्रान्ति के सारे प्रयत्न सरकार की ओर से दबा दिये जाते थे, और पहले की क्रान्तियों तथा उन नई

क्रांतियों के कारण, जिनके लिए उद्योग किया गया, सरकारों ने अपने-आपको अधिक सुरक्षित एवं समर्थ बना लिया, और इस विगत शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की बदौलत तो लोगों को प्रकृति तथा एक दूसरे पर ऐसे अधिकार प्राप्त होगये हैं कि जिनको लोग पहले जानते भी नहीं थे। इन आविष्कारों की सहायता से उन्होंने अपने अधिकारों को इस हद तक बढ़ा दिया है कि लोगों के लिए इसके विरुद्ध लड़ना असम्भव हो गया है। सरकारों ने केवल असंख्य धन ही अपने अधिकार में नहीं कर लिया है जो लोगों से एकत्र किया जाता है, उनके पास केवल सुसंगठित सैन्य-दल ही नहीं है, बल्कि उन्होंने अशिक्षित जनता को प्रभावित करने, अखबार तथा धार्मिक उन्नति एवं शिक्षा के समस्त साधनों को अपने हाथ में ले लिया है। और इनका ऐसा संगठन किया गया है, और वे इतने शक्ति-संपन्न हो गये हैं कि सन् १८४८ ई० के बाद से यूरोप में क्रान्ति करने का ऐसा कोई भी प्रयत्न नहीं हुआ है जिसमें सफलता प्राप्त हुई हो।*

(२)

ये वैज्ञानिक आविष्कार एक बिलकुल नई और हमारे समय के लोगों के लिए अद्भुत चीज हैं। नीरो और चंगेज खां आदि महान् विजेता चाहे कितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हों, वे अपने राज्य के सीमा-प्रान्तों में होने वाले बलवों को दबा नहीं सके। और अपनी प्रजा की शिक्षा, वैज्ञानिक तथा नैतिक और धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली मानसिक प्रवृत्तियों का नेतृत्व और संचालन कभी अपने हाथों में नहीं ले सके। जब कि इस समय खुफिया पुलिस, गुप्तचरों का प्रबंध, प्रेसों का नियंत्रण, रेलवे, तार, टेलीफोन, फोटोग्राफी, जेल, किला-बन्दी, प्रचुर धन-धान्य एवं सेना आदि सभी साधन वर्तमान सरकारों के हाथों में रहते हैं।

*रूस की वह महान् बोल्शेविक राज्य-क्रांति तो टॉल्स्टाय की मृत्यु के सात वर्ष बाद हुई। सं०

इन सबका संगठन ऐसे ढंग से किया गया है कि अयोग्य से अयोग्य और मूर्ख से भी मूर्ख शासक (आत्म-रक्षा के भावों से प्रेरित होकर) भयंकर-से-भयंकर क्रान्ति की तैयारी को रोक सकते हैं, और हमेशा बिना किसी विशेष उद्योग के खुली बगावत के उन निर्बल प्रयत्नों को दबा सकते हैं जो समय-समय पर बिछुड़े हुए क्रांतिकारियों की ओर से किये जाते हैं। इन लोगों के ऐसे प्रयत्नों से सरकारों की शक्ति और भी बढ़ जाती है। इस समय सरकारों के ऊपर विजय प्राप्त करने का केवल एक उपाय है। और वह उपाय यह है कि सैनिक लोग, जो प्रजा में के ही आदमी हैं, यह समझ लें कि सरकारें लोगों के साथ कितना अन्याय और निर्दयतापूर्ण व्यवहार करती हैं और प्रजा का कितना अधिक अनहित करती हैं, तथा उनकी सहायता करना बन्द कर दें। परन्तु इस सम्बन्ध में भी सरकारों ने यह जानकर कि उनकी सारी शक्ति सेना में ही है, उसके संचालन और शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध कर लिया है कि किसी भी प्रकार का आन्दोलन और प्रचार करने से फौजें सरकार के हाथ से नहीं निकल सकतीं। कोई भी मनुष्य;जो सेना में नौकर है और जिसे जादू का जैसा असर रखने वाली सैनिक शिक्षा, जो सैनिक व्यवस्था (discipline) के नाम से प्रसिद्ध है, प्राप्त हुई है, सेना रहते हुए, फिर उसका राजनीतिक विश्वास चाहे कुछ भी क्यों न हो, अपने सेना-नायक की आज्ञा नहीं टाल सकता। बीस-बीस वर्ष की अवस्था के किशोर सेना में भर्ती कर लिये जाते हैं और उन्हें मिथ्या धार्मिक शिक्षा दी जाती है, जड़वाद एवं मूर्खतापूर्ण देश-भक्ति के भाव उनमें भरे जाते हैं। ऐसे सैनिक सेवा से इन्कार नहीं कर सकते। जिस प्रकार वे लड़के, जो स्कूलों में भेजे जाते हैं, अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने से इन्कार नहीं कर सकते। सेना में भर्ती हो जाने पर ये नवयुवक, फिर उनका राजनीतिक विश्वास कुछ भी क्यों न हो, कई शताब्दियों के अभ्यास से प्राप्त इस कौशलपूर्ण सैनिक शिक्षा की बदौलत एक ही साल के भीतर अधिकारियों के मुँह

से आज्ञा निकलते ही उसके ऊपर काम करने वाले हथियार बन जाते हैं। अगर कहीं एक-आध उदाहरण ऐसे दिखलाई भी पड़ते हैं—लगभग १०,००० में मुश्किल से कहीं एक मनुष्य ऐसा मिलता है—जिसने सैनिक सेवा करना अस्वीकार कर दिया हो, तो यह काम प्रायः सरकार द्वारा अस्वीकृत किसी धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर तत्कथित 'साम्प्रदायिक' विचार वाले पुरुष ही करते हैं। इसलिए वर्तमान समय में यूरोपीय जगत् में—यदि सरकारें अपनी शक्ति को बनाये रखना चाहें, और वे ऐसा अवश्य चाहेंगी, क्योंकि इस शक्ति के नाश हो जाने पर शासकों का अधःपतन अनिवार्य हो जायगा—किसी भी भारी क्रान्ति का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी अगर इस तरह की कोई तैयारी की गई तो वह फौरन दबा दी जायगी, और इसका परिणाम केवल यह होगा कि बहुत से अविचारी व्यक्तियों का नाश हो जायगा और सरकार की शक्ति पहले की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ जायगी। यह बात क्रान्तिकारियों और साम्यवादियों की समझ में भले ही न आवे, जो प्राचीन इतिहास का अनुसरण करते हुए, जोश के प्रवाह में बहकर लड़ाई-झगड़े कर बैठते हैं और कुछ लोगों के लिए यह एक निश्चित व्यापार-सा हो गया है; परन्तु जो लोग स्वतन्त्र रूप से ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करते हैं, वे इसे अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

यह एक नवीन चमत्कार है, और इसलिए जो लोग इस वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन करने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि वे यूरोपीय जगत् की वर्तमान शक्तियों की इस नवीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए अपना कार्यक्रम तैयार करें।

(३)

शासकों तथा शासितों के बीच यह झगड़ा बहुत काल से होता आया है। उसका परिणाम पहले तो यह हुआ कि एक शक्ति का स्थान दूसरी शक्ति ने लिया; इसके बाद तीसरी का प्रादुर्भाव हुआ और इसी प्रकार एक-एक करके अनेक शक्तियों का जन्म हुआ। परन्तु हमारे यूरो-

पीय जगत् में गत शताब्दी के मध्य-काल से वर्तमान सरकारों को वैज्ञानिक उन्नति की बदौलत अपनी रक्षा के ऐसे साधन प्राप्त हो गये हैं कि उनके साथ टक्कर लेना असम्भव-सा हो गया है। इस शक्ति में क्रमशः जितनी ही अधिक वृद्धि होती गई उतनी ही अधिक उसमें शिथिलता भी आती गई है, अर्थात् वह आन्तरिक पारस्परिक विरोध और भी अधिक स्पष्ट हो गया है जो उपकारी शक्ति और अत्याचारी शक्ति के बीच होता है। यह बात स्पष्ट हो गई कि जिस शक्ति को सर्व-श्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ में होना चाहिए था, जिससे उसका प्रयोग उदारता के साथ किया जा सके, वह हमेशा सबसे निकृष्ट लोगों के हाथ में रही है। इसका कारण यह है कि सर्वोत्कृष्ट मनुष्यों ने शक्ति की इस वास्तविकता को समझ लिया कि सत्ता पाने पर लोगों का दिमाग ठिकाने नहीं रहता। वे अपने पड़ोसियों पर ही अत्याचार करने लगते हैं। अतः उन्होंने कभी इस शक्ति के पाने की इच्छा ही नहीं की और इसीलिए वे उसे न प्राप्त कर सके और न प्राप्त हो जाने पर उसे बनाये रख सके।

यह विरोध इतना स्पष्ट है कि प्रायः सभी की दृष्टि इस पर पड़ गई होगी। तथापि इस शक्ति का बाह्य रूप बड़ा ही चटकीला, भड़कीला और नुमायशी होता है लोगों में उसका बहुत भारी भय समाया रहता है और परम्परा से उनके अन्दर ऐसी जड़ता चली आती है कि सैकड़ों और हजारों वर्ष के बाद अब कहीं लोगों ने भूल को समझा है। अभी कुछ ही दिनों से लोग यह समझने लग गये हैं कि सत्ता का रूप चाहे कितना ही गम्भीर हो, उसका मतलब तो है धन, स्वाधीनता और जीवन के अपहरण की धमकी देना तथा उस धमकी को कार्य-रूप में परिणत करना। अतः वे लोग निकृष्ट होते हैं, जो राजाओं सम्राटों, राज—मंत्रियों, जजों तथा ऐसे ही अन्य लोगों की भांति इसी में अपना सारा जीवन लगा देते हैं और जिनके जीवन का लक्ष्य सिवाय इसके और कुछ भी नहीं होता कि वे अपनी इस स्थिति को बनाये रहें—इसलिए वे अपनी इस शक्ति से मनुष्य जाति का कुछ भी भला नहीं कर सकते; बल्कि इसके

विपरीत वे सदैव मानव-समाज की सामाजिक दुर्दशा का कारण रहे हैं और अब भी हैं। इसलिए जो शक्ति पहले किसी समय लोगों में उत्साह और भक्ति उत्पन्न करती थी; आज अधिकांश और सर्वोत्तम मनुष्यों में केवल उदासीनता के भाव ही नहीं वरन् कभी-कभी द्वेष और और घृणा के भाव भी उत्पन्न करती है। ये लोग, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और समझदार हैं, अब समझते हैं कि जिस नुमायशी चटक-मटक से यह शक्ति परवेष्टित है वह जल्लाद (फांसी लगाने वाले) की लाल कमीज और मखमली पायजामे को छोड़ और कुछ भी नहीं है, जिनकी वजह से वह दूसरे कैदियों से भिन्न रहता है, क्योंकि उसने क्रूर और निन्द्य काम को अपने हाथ में ले लिया है।

लोगों में दिन-ब-दिन इस शक्ति के प्रति जो भाव बढ़ते जा रहे हैं, उन्हें शासक लोग भली-भांति समझते हैं और इसलिए उनकी इस शक्ति का आधार अब अभिषिक्त राजत्व, सार्वजनिक निर्वाचन अथवा शासकों के जन्म-सिद्ध अधिकार के ऊपर नहीं किन्तु पूर्णतया दमन के ऊपर है। फलतः इस पर से लोगों का विश्वास उठ जाने के कारण शासकों को अधिकाधिक दमन करके राष्ट्रीय जीवन को कुचलना पड़ता है। इसका यह फल होता है कि लोगों में और भी अधिक असंतोष फैलता जाता है।

(४)

यह अजेय सत्ता अब विशेष अधिकारों, निर्वाचन अथवा प्रतिनिधित्व की राष्ट्रीय नींव के ऊपर नहीं किन्तु, नग्न बल-प्रयोग के ऊपर ही जी रही है। साथ ही लोगों ने इस शक्ति में विश्वास करना और उसका सम्मान करना बन्द कर दिया है। अब वे यदि उसके आगे सिर झुकाते हैं तो मजबूर होकर ।

विगत शताब्दी के ठीक मध्य-काल से यद्यपि सत्ता पर विजय प्राप्त करना तो कठिन हो गया, पर उसका प्रभाव बिलकुल जाता रहा। उसी समय से लोगों में इस भाव की जागृति हुई कि स्वतन्त्रता सत्ता से

भिन्न वस्तु है,—वह कल्पित और बनावटी स्वतन्त्रता नहीं जिसका उपदेश दमन के उपासकों की ओर से किया जाता है, और जिसके अन्दर उन्हीं के कथनानुसार मनुष्य को दण्ड का भय दिखला कर दूसरों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया जाता है, किन्तु वह सच्ची स्वतन्त्रता, जिसका आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य कर सके और अपना जीवन बिता सके, चाहे टैक्स दे अथवा न दे, सेना में भर्ती हो या न हो, अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मित्रता रखे अथवा उनका शत्रु बने। यह स्वतन्त्रता उस शक्ति के विपरीत है जिसके कारण थोड़े से मनुष्य शेष मनुष्य-समाज पर शासन कर सकते हैं।

इस मत के अनुसार शक्ति कोई ईश्वरीय तथा महान् वस्तु नहीं है, जैसा कि पहले लोग समझा करते थे। वह समाजिक जीवन की ऐसी अनिवार्य शर्त भी नहीं है। वह तो उस असंस्कृत, बेढंगे बल-प्रयोग का एक फल (परिणाम) मात्र है जो कुछ थोड़े से लोग दूसरों के ऊपर किया करते हैं। यह सत्ता बुरी चीज है, फिर चाहे वह लुई, नेपोलियन, सुलतान, पार्लमेण्ट, कैबिनेट, मन्दारिन, राजा, नवाब, मिकाडो अथवा और किसी के हाथ में हो। इसमें सदा कुछ लोगों का शेष जनता पर अधिकार रहेगा और उस पर अत्याचार भी होंगे ही।

अतः इस सत्ता का ही सबसे पहले नाश करना चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि सत्ता का अन्त किस प्रकार किया जाय और उसका अन्त हो जाने पर सारी बातों की व्यवस्था किस प्रकार की जाय कि इस सत्ता के अभाव में लोग कहीं फिर से एक दूसरे पर पशुओं की तरह बल-प्रयोग न करने लग जायं ?

सभी अराजक (राज्य की सत्ता न मानने वाले लोग इसी नाम से पुकारे जाते हैं) एक स्वर से इस प्रश्न का उत्तर यों देते हैं कि यदि इस शक्ति का वास्तव में नाश करना है तो उसका अन्त बल-प्रयोग के द्वारा नहीं वरन् इस बातके ज्ञान-प्रचार द्वारा किया जाना चाहिए कि

सत्ता दर असल एक व्यर्थ और खराब चीज है। दूसरा प्रश्न यह है कि बिना सत्ता की सहायता के समाज का संगठन किस प्रकार किया जाना चाहिए। इसका उत्तर ये अराजकवादी भिन्न-भिन्न रीति से देते हैं।

मि० गॉडविन (अंग्रेज), जिनका जीवन-काल १८वीं शताब्दी के अंत और १९वीं शताब्दी के आरंभ काल में बतलाया जाता है, और मि० प्राउढन (फ्रांसीसी) जिनका कार्य-काल इस अंतिम शताब्दी के मध्य में था, पहले प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—"सत्ता का नाश करने के लिए लोगों में ज्ञान का होना पर्याप्त है। सार्वजनिक भलाई [गॉडविन के मतानुसार] और न्याय [प्राउढन के मतानुसार] को सत्ता दबा देती है। यदि लोगों में इस भाव का प्रचार हो जाय कि सार्वजनिक भलाई और न्याय की प्राप्ति केवल शक्ति की अनुपस्थिति में ही की जा सकती है तो यह शक्ति आप-से-आप नष्ट हो जायगी।

दूसरे प्रश्न का अर्थात् 'बिना सत्ता के नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार की जायगी और उसमें शांति की स्थापना किस प्रकार की जा सकेगी' गॉडविन और प्राउढन दोनों यह उत्तर देते हैं कि जिन लोगों के हृदयों में सर्व-साधारण की भलाई (गॉडविन के मतानुसार)और न्याय (प्राउढन के मतानुसार) के भाव विद्यमान हैं, वे अपने स्वभावानुसार सर्वथा न्याय-युक्त जीवन अवश्य ढूंढ लेंगे।

बैकोनिन और क्रोपाटकिन आदि यद्यपि इस बात को स्वीकार करते हैं कि सर्व-साधारण में इस बात का ज्ञान हो जाना परमावश्यक और अत्यंत लाभप्रद है कि सत्ता (पशु-बल) एक हानिकारक और मानव उन्नति में बाधा डालने वाली वस्तु है, तथापि उसको मिटाने के लिए जो उपाय हो सकते हैं उनमें से वे क्रांति को आवश्यक मानते हैं जिसकी तैयारी करने के लिए वे लोगों को सलाह भी देते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में वे यह कहते हैं कि ज्यों ही शासन-संगठन और वस्तुओं के वैयक्तिक अधिकार की बात नष्ट हो जायगी त्यों ही, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग स्वयं ही विवेक-युक्त, स्वतंत्र, और लाभप्रद जीवन-संबंधी शर्तों को

स्वीकार कर लेंगे और उन्हें अपना लेंगे।

मार्क्स स्टर्नर (जर्मन) और मि० टकर (अमेरिकन) सत्ता को कैसे नष्ट किया जाय, इस प्रश्न का लगभग वही उत्तर देते हैं जो दूसरे लोग दिया करते हैं। वे कहते हैं—सत्ता अपने-आप नष्ट हो जाय यदि लोग यह समझ लें कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्य का काफी और सच्चा पथ-प्रदर्शक है। वे यह भी कहते हैं कि सत्ता उस समय आप-से-आप नष्ट हो जायगी, जब लोग समझ सकेंगे कि पशु-बल मानव-जीवन के इस प्रधान अंग का पूर्ण प्रदर्शन करने में केवल बाधक ही होता है, क्योंकि ऐसी दशा में न तो कोई उसको सिर झुकावेगा और न, जैसा कि मि० टकर का कहना है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा ही लेगा। दूसरे प्रश्न के संबंध में उनका उत्तर यह है कि इस शक्ति की आवश्यकता और उसके मिथ्या विश्वास से मुक्त होने पर और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रखते हुए काम करने वाले मनुष्य आप-से-आप अपने जीवन को ऐसा व्यवस्थित बना लेंगे जो बिलकुल उचित और प्रत्येक मनुष्य के लिए लाभ-प्रद होगा।

एक बात में ये सभी पुरुष एकमत हैं और वह ठीक भी है कि शक्ति की दवा शक्ति नहीं है। क्योंकि शक्ति से एक शक्ति का नाश होने पर दूसरी शक्ति फिर भी बनी ही रहेगी, शक्ति का नाश तो मनुष्यों के हृदय में इस सत्य-ज्ञान का प्रकाश डालने से हो सकता है कि शक्ति (पशु-बल) एक व्यर्थ और हानि-कारक वस्तु है, और लोगों को न उसे मानना चाहिए और न उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा लेना चाहिए। यह सत्य ऐसा है जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता। शक्ति का नाश केवल लोगों में विवेक-पूर्ण ज्ञान का संचार होने से ही हो सकता है। परन्तु यह ज्ञान कैसा होना चाहिए? क्रांति-वादियों का विश्वास है कि इस ज्ञान का आधार सर्व-साधारण की भलाई, न्याय, उन्नति अथवा मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धी विचारों के ऊपर होना चाहिए। परन्तु कहना न होगा कि ये सारी बातें ऐसी हैं जो एक-दूसरे से सहमत

नहीं हैं। सर्व-साधारण की भलाई, न्याय, उन्नति अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ की परिभाषा भी लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। अतएव हमें तो यह असम्भव प्रतीत होता है कि जो लोग एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, और जो भिन्न-भिन्न उद्देश से शक्ति (पशु-बल) का विरोध करते हैं वे कभी उस शक्ति को मिटा सकेंगे जिसकी जड़ इतनी जमी हुई है और जिसकी इतनी योग्यता के साथ रक्षा की जा रही है। इसके अतिरिक्त यह अनुमान कर लेना और भी निराधार है कि सर्व-साधारण की भलाई, न्याय अथवा उन्नति सम्बन्धी नियमों के विचार-मात्र धारण करने से वे अत्याचार-मुक्त लोग जो कि सर्व-साधारण की भलाई के खातिर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ना नहीं चाहते, पारस्परिक स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करेंगे और न्याय-पूर्ण जीवन व्यतीत करने में लग जायंगे। मॉक्स स्टर्नर और टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी सिद्धान्त (कि प्रत्येक मनुष्य के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने से सब लोगों में उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकता है) केवल अस्थायी ही नहीं वरन् उन बातों के सर्वथा प्रतिकूल है जो वस्तुतः अब तक हुई हैं और अब भी हो रही हैं।

अतः यद्यपि क्रान्तिवादी मानते हैं कि सत्तावाद के विनाश का अगर कोई उपाय हो सकता है तो वह आध्यात्मिक ही हो सकता है, तथापि वह उनके पास नहीं है क्योंकि उनकी जीवन-कल्पना पार्थिव और धर्म-विरुद्ध है। उनकी सारी बातें अनुमान पर ही निर्भर हैं। और अपने आदर्श को प्राप्त करने का समुचित साधन न बता सकने के कारण पशु-बल और दमन के समर्थकों को क्रान्तिवादियों द्वारा प्रति-पादित सच्चे सिद्धान्तों को मानने से इन्कार करने का अवसर मिल जाता है।

इस आध्यात्मिक अस्त्र को लोग बहुत पहले से जानते हैं। इसने सदैव सत्तावाद का नाश किया है और जिन लोगों ने इसका प्रयोग किया है उन्होंने पूर्ण और शाश्वत स्वाधीनता प्रदान की है। उपाय

बिलकुल सीधा है—मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बनावे। वह अपने इस सांसारिक जीवन को, अपने संपूर्ण अनन्त जीवन का एक आंशिक प्रदर्शन-मात्र समझे, और अपने इस जीवन का अनन्त जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह समझे कि इस अनन्त जीवन के नियमों का पालन करने में ही उसका बड़ा-से-बड़ा कल्याण है। वह उन नियमों का आदर मनुष्य के बनाये नियमों की अपेक्षा अधिक करे, और उन्हीं का पालन करे।

केवल ऐसे ही धार्मिक विश्वास से, जो समस्त मनुष्य-समाज के लिए एक ही प्रकार के जीवन का विधान करता है और जो सत्तावाद के आधिपत्य को स्वीकार करने और उसमें भाग लेने का तीव्र विरोध करता है, सत्तावाद का सचमुच नाश हो सकता है।

केवल ऐसे ही जीवन को आदर्श मानने से मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। इसी के द्वारा वे बिना बल-प्रयोग का आश्रय लिये विवेक-पूर्ण और न्याय-युक्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

कैसा आश्चर्य है कि लोगों को इस बात का विश्वास होने पर ही कि वर्तमान समय की सत्ता अजेय है और शक्ति के द्वारा इस समय वह नष्ट नहीं की जा सकती, इनकी समझ में यह स्वतः प्रमाणित और बिलकुल सत्य बात आई कि शक्ति और उससे उत्पन्न होने वाली सारी बुराई मनुष्यों के कुत्सित जीवन की केवल परिणाम-मात्र है, और इसलिए इस शक्ति का तथा उससे उत्पन्न होने वाली सारी बुराइयों का अन्त करने के लिए लोग अपने जीवन को अच्छा और सदाचार-मय बनावें।

ख़ैर, सुबह का भूला-भटका शाम को तो घर पर आ गया। अब उन्हें एक बात समझ लेनी है। वह यह है कि लोगों के जीवन को अच्छा और सदाचार-मय बनाने का एक-मात्र उपाय,जो स्वाभाविक हो और जिसे अधिकांश जन-समाज भी आसानी से समझ ले।

केवल ऐसी ही धार्मिक शिक्षा के प्रचार और प्रसार से लोग उस

आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं जिसका इस समय उनके अन्तःकरण में आविर्भाव हुआ है और जिसके लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सत्ता को मिटाने और शक्ति की सहायता के बिना मनुष्यों में सदाचार-मय जीवन स्थापित करने के लिए दूसरा कोई उद्योग करना केवल अपने परिश्रम का व्यर्थ व्यय करना है। इससे हम अपने उस लक्ष्य के निकट नहीं पहुँच सकेंगे, जिसकी ओर पहुँचने के लिए लोग प्रयत्न कर रहे हैं वरन् उससे और भी दूर हट जायंगे।

(५)

सज्जनो, यही बात मैं आपसे कहना चाहता हूं। आप सत्यशील हैं और आपका हृदय शुद्ध है,इसीलिए तो आप इस स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन से असंतुष्ट होकर अपनी शक्ति को अपने भाइयों की सेवा में लगाना चाहते हैं। यदि आप सरकारी कामों में हिस्सा लेते हैं अथवा उसमें हिस्सा लेने के इच्छुक हैं और इस उपाय से लोगों की सेवा करना चाहते हैं, तो इस बात पर जरा विचार कीजिए कि क्या प्रत्येक सरकार पशु-बल के सहारे टिकी हुई है अथवा नहीं? अपने-आपसे यह प्रश्न करने पर आपको मालूम होगा कि संसार में एक भी सरकार ऐसी नहीं है जो बल-प्रयोग, डाकाजनी और हत्या न करती हो, उनके लिए तैयार न रहती हो और इन्हीं बातों के ऊपर अपना अस्तित्व न बनाये हो।

अमेरिका के एक लेखक--मि० थोरो—ने एक सुन्दर लेख लिखा है। उसका विषय है "सरकार की आज्ञा न मानना मनुष्य का कर्त्तव्य क्यों है?" उसमें उन्होंने यह बताया है कि संयुक्त-राज्य (अमेरिका) की सरकार को एक डॉलर का टैक्स देने से उन्होंने कैसे इन्कार कर दिया। अपनी इस इंकारी का कारण उन्होंने यह बतलाया कि मैं अपने एक डॉलर से ऐसी सरकार के कामों में कोई सहायता करना नहीं चाहता जो अफ्रीका के हबशियों को गुलाम बनाये रखने की इजाजत देती है। क्या ठीक ऐसा ही भाव संयुक्त-राज्य अमेरिका, जैसे समुन्नत

राज्य के नागरिक का अपनी सरकार की उन करतूतों के सम्बन्ध में नहीं हो सकता और न ही होना चाहिए,जो क्यूबा और फिलीपाइन्स में हो रही है ? हबशियों के साथ में होने वाले व्यवहार और चीनियों के देश-निकाले के सम्बन्ध में क्या एक अमेरिकन के चित्त में यही भाव उत्पन्न नहीं होने चाहिएं ? अथवा इंग्लैण्ड का नागरिक अफीम-सम्बन्धी नीति और बोअर लोगों के साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार के सम्बन्ध में अपनी सरकार के प्रति ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता और उसे न करना चाहिए ? अथवा क्या फ्रांस का नागरिक फ्रांस की सरकार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता जिसने सैनिकवाद का हौआ दिखाकर लोगों पर आतंक जमा रखा है ?

इसलिए सरकारों के नग्न स्वरूप को एक बार पहचान लेने पर कोई भी सच्चा मनुष्य, जो अपने देशवासी भाइयों की सेवा करना चाहता है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता। बशर्ते कि वह यह न मानता हो कि साधन की पवित्रता का प्रमाण साध्य की सिद्धि ही है। परन्तु ऐसे कार्य से किसी का उपकार नहीं हो सकता, न सेवकों का और न सेवितों का।

बात बिलकुल सीधी है। सरकारकी अधीनता स्वीकार करके और उसके कानून की सहायता-द्वारा आप लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लेना चाहते हैं न? परंतु लोगों की स्वतंत्रता और अधिकार सरकार तथा, सामान्यतया, शासक-समाज की सत्ता के विरोधी अनुपात में हैं। जितनी ही अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लोगों को प्राप्त होंगे उतनी ही कम शक्ति और लाभ उनसे सरकार को होगा। और इस बात को सरकारें खूब अच्छी तरह जानती हैं। उनके हाथ में सत्ता होने के कारण वे लोगों को खूब आजादी के साथ मनमानी बातें बकने देती हैं और कुछ थोड़े-से मामूली सुधार भी दे देती हैं, जिससे उनकी उदारता का परिचय मिलता रहे। परंतु जिस समय कोई ऐसा आन्दोलन उठाया जाता है जिससे शासकों के विशेषाधिकार ही नहीं

वरन् उसका अस्तित्व (हस्ती) भी खतरे में पड़ जाता है तो वे बल-प्रयोग द्वारा इन आन्दोलनोंको दबाकर आन्दोलन करने वालों को फौरन गिरफ्तार कर लेते हैं। इसलिए सरकारी शासन की सहायता का, अथवा पार्लमेंट के द्वारा लोगों की सेवा करने के आपके सारे प्रयत्नों का परिणाम केवल यह होगा, कि आप अपने इस कार्य से शासकों की शक्ति को और भी अधिक बढ़ा देंगे, और जितनी ही अधिक आप में इस काम की सच्ची लगन होगी उतना ही अधिक आप जानते हुए अथवा अनजान में, इस शक्ति में भाग लेने के दोषी होंगे। यही बात उन लोगों के सम्बन्ध में है जो लोग वर्तमान शासन-व्यवस्था के द्वारा जनता की सेवा करना चाहते हैं।

यदि, इसके विपरीत आप उन सच्चे हृदय वाले लोगों में से हैं जो क्रान्तिकारी साम्यवादी आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं (मनुष्य को कभी सन्तोष न देने वाले पार्थिव सुखोंके पीछे दौड़ने के लिए जो आदर्श प्रेरणा करता है उसकी तुच्छता के विषय में विशेष कहने की जरूरत नहीं) तो आपको उन साधनों पर भी विचार कर लेना चाहिए जो आपको अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राप्त हैं। ये साधन सर्वप्रथम तो नीति-विरुद्ध हैं, इनमें झूठ, दगाबाजी, जोर-जब्त और हत्या भरी पड़ी है; दूसरे इन साधनों से किसी भी प्रकार उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अपने अस्तित्वकी रक्षा करने वाली सरकारों का बल और चौकन्नापन इस समय इतना ज्यादा है कि छल-कपट, धोखेबाजी अथवा सख्ती से उनका मिटना केवल असम्भव ही नहीं है वरन् ये चीजें उन्हें हिला तक नहीं सकतीं। जितने भी क्रान्तिकारी आन्दोलन किये जाते हैं उन सबके कारण सरकारों को यह बतलाने का फिर से मौका मिल जाता है कि उनका पशु-बल एक अच्छी चीज है। और इससे उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती है।

लेकिन अगर हम असम्भव बात को भी सम्भव मान लें—अर्थात् यह मान लें कि हमारे समय में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन को सफलता

प्राप्त हो सकती है, तो सबसे पहले, हम इस बात की आशा कैसे कर लें कि परम्परागत प्रथा के विरुद्ध, एक शक्ति पर विजय प्राप्त करने वाली दूसरी शक्ति लोगों की स्वाधीनता को बढ़ा देगी और विजय-प्राप्ति द्वारा उसने जिस शक्ति का स्थान ग्रहण किया है, उसकी अपेक्षा अधिक उदार और दयालु होगी ? दूसरे यदि सामान्य बुद्धि और अनुभव के विरुद्ध, यह भी सम्भव हो कि एक शक्ति को मिटाकर दूसरी शक्ति लोगों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान कर सकेगी जो जीवन की उन अवस्थाओं को स्थापित करने के लिए आवश्यक है, जिन्हें वे अपने लिए अत्यधिक लाभ-प्रद समझते हैं, तब तो हमें यह भी मान लेना होगा कि स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले लोग आपस में पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी अवस्था उत्पन्न कर सकेंगे।

हम मान लेते हैं कि डाहोमियों की एक महारानी उदार-से-उदार शासन की स्थापना करती है। वह परिश्रम के साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने की बात को भी स्वीकार कर लेती है। फिर भी शासन का कार्य ठीक तरह से चलाने और परिश्रम के साधन किसी व्यक्ति-विशेष की निजी सम्पत्ति न बनाये जा सकें इत्यादि बातों की देख-भाल करने के लिए किसी-न-किसी को अपने हाथों में सत्ता तो लेनी ही पड़ेगी। परन्तु जिस समय तक ये लोग अपने-आपको डाहोमी समझते रहेंगे और उनके जीवनादर्श में कोई परिवर्तन न होगा, तब तक यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि—यद्यपि दूसरे ही रूप में क्यों न सही—थोड़े से डहोमी दूसरों के ऊपर वैसा ही अत्याचार और बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि शासन-व्यवस्था के अभाव में और परिश्रम के साधनों को बिना राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाये किया जा सकता है। साम्यवादी ढंग पर अपने-आपको संगठित करने से पहले डाहोमियों को चाहिए कि वे प्रजा-पीड़न और रक्तपात की तरफ से अपनी तबियत को खींच लें। ठीक यही बात यूरोप के लोगों के लिए भी आवश्यक है।

हम चाहते हैं कि लोग एक-दूसरे को बिना कष्ट दिये और सताये

परस्पर प्रेम-मय जीवन व्यतीत कर सकें। पर यह पशु-बल अथवा किसी संस्था-द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो ऐसी सुनीति-पूर्ण परिस्थिति की आवश्यकता है जिसके अनुसार लोग किसी के दबाव से नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरण से ही दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें। यह असम्भव नहीं, ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। वे धार्मिक सम्प्रदाय के लोगों में विद्य-मान हैं। ऐसे लोग वास्तव में पशु-बल द्वारा रक्षित कानून की सहायता नहीं लेते। वे बिना एक-दूसरे को कष्ट पहुंचाये अब भी संसार में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः इस समय हमारे ईसाई समाज का कर्त्तव्य स्पष्ट है। उन्हें चाहिए कि वे ईसा के सन्देश को संसार के कोने-कोने में पहुंचावें। ईसा का सन्देश यह नहीं है कि वर्तमान अत्याचारी सरकारों की सत्ता को स्वीकार कर धर्म-ग्रन्थों में लिखी क़वायद रोज़ सुबह-शाम या हर रविवार मंत्रोच्चार के साथ करते जाओ। ईसाई धर्म यह करने का आदेश नहीं करता, न इसके प्रचार की जरूरत है कि आओ, ईसा की शरण गहो, वह तुम्हें पापों से बचायेगा। प्रचार उन्हें इस बात का करना चाहिए कि लोग सरकारों के काम में कोई भाग न लें; उनकी सारी मांगों को अस्वीकार कर दें। क्योंकि ये सारी मांगें—एकसिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सच्चे ईसाई-धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं। और यदि बात ऐसी ही हो, तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जो लोग अपने पड़ो-सियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें अपनी शक्ति नवीन रूप से समाज-संगठन करने में नहीं, वरन् अपने तथा दूसरे लोगों के आचरण में परिवर्तन करने और उसे शुद्ध एवं पवित्र बनाने में लगानी चाहिए।

जिन लोगों का कार्य-क्रम दूसरा है, वे प्रायः यह समझते हैं कि मनुष्यों के आचरण-सम्बन्धी विश्वास और रहन-सहन के ढंग आदि में साथ-ही-साथ उन्नति होती है। परन्तु ऐसा ख्याल करके वे एक कार्य को कारण और कारण को अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली किसी बात को कार्य समझ बैठने की गलती करते हैं।

मनुष्यों के चरित्र और जीवन-सिद्धान्तों में परिवर्तन होने से लोगों के रहन-सहन में अपने-आप परिवर्तन हो जाता है; रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन होने से मनुष्यों के चरित्र और जीवन-सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं होता। मनुष्यों को सुधारने का यह गलत तरीका है। इससे तो उलटा मनुष्य का ध्यान मिथ्या और कल्पित स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाता है। अतः लोगों के चरित्र और जीवन-सिद्धान्तों में परिवर्तन करने की आशा से उनके रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन करना व्यर्थ है। इससे अपने निश्चित ध्येय की तरफ पहुंचने की बजाय हम अनजान में दूसरी ही तरफ भटक जावेंगे।

यह बात बिलकुल साफ है। फिर भी लोग गलती कर जाते हैं। इसलिए कि अपना सुधार करने की अपेक्षा पशु-बल की सहायता से दूसरों को मजबूरन अपनी इच्छा के अनुकूल झुका लेना कुछ आसान है। और इसका प्रभाव भी वैसा ही भ्रमोत्पादक है।

परन्तु प्यारे सुधारको, अगर तुम सच्चा सुधार चाहते हो तो इस गलती से बचना। नहीं तो तुम्हारा सारा त्याग, सारा बलिदान और तुम्हारा सारा कार्य मिट्टी हो जायगा जिसके लिए तुम अपने प्राणों की भी पर्वाह नहीं करते।

(६)

लोग कुछ सच्चे और कुछ बनावटी क्रोध में आकर कहते हैं—"लेकिन जब हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग दुःख से पीड़ित हैं और नाना प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं, तो शान्ति के साथ ईसाई धर्म का उपदेश और प्रचार करने से हमारी आत्मा को सन्तोष नहीं होता। हम बहुत जल्दी उनकी सेवा करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम का, यहां तक कि अपने जीवन तक का, बलिदान करने को तैयार हैं।"

इन लोगों को मेरा उत्तर यह होगा कि तुम कैसे जानते हो कि तुम्हें ठीक उसी तरीके से लोगों की सेवा करने की आज्ञा मिली है जिसे

तुम सबसे अधिक उपयोगी और व्यवहार्य समझते हो ? जो कुछ तुम कहते हो, उससे तो सिर्फ इतना पता चलता है कि तुम यह बात पहले से ही तय कर चुके हो कि धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए तुम मनुष्य-समाज की सेवा नहीं कर सकते, तुमने तो मानो निश्चय कर रखा है कि सच्ची सेवा उस राजनीतिक कार्य द्वारा ही हो सकती है जो तुम्हें सबसे अधिक आकर्षित करता है ।

सभी राजनीतिज्ञ इसी तरह सोचते हैं और उन सबकी बातें परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध हैं और इसलिए यह बात निश्चय है कि वे सभी सही नहीं हो सकते । क्या ही अच्छा होता यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार जिस प्रकार चाहता, लोगों की सेवा कर सकता ? पर बात ऐसी नहीं है । लोगों की सेवा करने और उनकी दशा सुधारने का केवल एक ही उपाय है । यह उपाय है उस शिक्षा का उपदेश करना और उसके अनुसार कार्य करना जिससे मनुष्य में अपने-आपको सुधारने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । एक सच्चा धार्मिक पुरुष, जो हमेशा मनुष्यों के बीच में रहता है; उनसे द्वेष नहीं करता, अपनी आत्म-शुद्धि इसी में समझता है कि वह अपने तथा दूसरे लोगों के बीच उत्तम और अधिकाधिक प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करे । मनुष्यों में प्रेम-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाने से उनकी साधारण अवस्था का अवश्य सुधार होगा, यद्यपि इस उन्नति का रूप लोगों पर अप्रकट ही रहता है ।

यह सच है कि सरकारी पार्लमेण्ट अथवा क्रान्तिकारी आन्दोलनों द्वारा लोगों की सेवा करने में हम पहले से ही उस फल का अनुमान कर सकते हैं जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, और साथ ही इसके आनन्द-मय और विलासिता-पूर्ण जीवन की समस्त सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं, और भारी ख्याति, लोगों की स्वीकृति और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं । यदि उन लोगों को, जो ऐसे कामों में हिस्सा लेते हैं, किसी समय कष्ट भी उठाना पड़ता है, तो लोग उस विजय की आशा से उसे भुला देते हैं जो कि वे सोचते हैं, उन्हें मिलेगी ।

सैनिक-कार्य में कष्ट तथा मृत्यु की और भी अधिक सम्भावना है; फिर केवल ऐसे लोग उसे पसन्द करते हैं जिनमें बहुत थोड़ी नैतिकता है और जो स्वार्थ-मय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले हैं।

दूसरी ओर सदाचार-युक्त धार्मिक आचरण ऐसी वस्तु है जिसका परिणाम हमें झटपट नहीं दिखाई देता। दूसरे यह आन्दोलन चाहता है कि लोग बाहरी सफलता का परित्याग कर दें। इससे अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त होना तो दूर, परन्तु वह लोगों को सामाजिक दृष्टि से नीची-से-नीची स्थिति को पहुंचा देता है—उन्हें अपमान और दण्ड का ही नहीं, बल्कि अत्यंत निर्दयतापूर्ण दुःखों और मौत तक का शिकार बनाता है।

इस प्रकार, इस समय जब कि आम तौर पर लोगों को सेना में जबरदस्ती भर्ती करके [1]उन्हें सैनिक बनाकर यह अपराधपूर्ण हत्या का काम करने को कहा जा रहा हो, धर्माचरण मनुष्य को इस बात का आदेश करता है कि वह उन तमाम सजाओं को बर्दाश्त करे जो सैनिक-सेवा अस्वीकार करने पर सरकार उसे दे। इसलिए, धर्माचरण बहुत कठिन है, पर यही मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता का ज्ञान कराता है और मनुष्य को इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह वही काम कर रहा है जो करना चाहिए।

अतएव, धर्माचरण ही वास्तव में एक लाभदायक चीज है। क्यों कि इससे केवल उस निश्रेयस की सिद्धि ही नहीं होती वरन् साथ-ही-साथ और एक बिलकुल स्वाभाविक और साधारण ढंग से उन सारी बातों की भी प्राप्ति हो जाती है जिनके लिए समाज-सुधारक लोग ऐसी कृत्रिम रीति से प्रयत्न करते रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने का केवल एक ही उपाय है और

---

[1]अनिवार्य सामाजिक सेवा का कानून यूरोप के कई देशों में महा-युद्ध के पहले-पहल तक था।

वह यह कि मनुष्य शुद्ध और सदाचार-मय जीवन व्यतीत करे। यह उपाय केवल खयाली उपाय नहीं है—जैसा कि वे लोग समझते हैं जिनको इससे कोई नकद लाभ नहीं पहुंचता। हां, इसके अतिरिक्त जितने भी दूसरे उपाय हैं वे सभी खयाली हैं, जिनके द्वारा साधारण अशिक्षित जनता के नेता उन्हें उस एक-मात्र सच्चे उपाय की ओर से हटाकर एक बनावटी और झूठे मार्ग की ओर प्रलोभन देकर लगा देते हैं।

(७)

कुछ जल्दबाज लोग पूछते हैं—यदि इसी मार्ग से मनुष्य का कल्याण होगा तो यह तो बताइए कि वह कल्याण होगा कब ?

क्या ही अच्छा होता अगर हमें अपने सुकर्मों का फल जल्दी मिल जाता ? परन्तु बात यह है कि सुकर्म बहुत धीरे-धीरे फूलते-फलते हैं। आखिर बीज को उगने, उसके डाल-पत्तियां आने, उसे फूल लगने आदि में कुछ देर तो लगेगी ही। तब कहीं वृक्ष होगा।

मनुष्य जमीन में डालियां गाड़ सकता है, और कुछ देर तक वे जंगल-सी प्रतीत भी होंगी; परन्तु वे कहीं असली जंगल की बराबरी कर सकती हैं ? इसीप्रकार थोड़ी देर के लिए ऐसा प्रबन्ध किया जा सकता है, जैसा कि सरकारें किया करती हैं, कि समाज के अन्दर सुव्यवस्था है, परन्तु ऐसी कृत्रिमता से सच्ची व्यवस्था की भी सम्भावना नष्ट हो जाती है। एक तो एक अच्छी चीज की बुरी नकल करके अच्छी चीज के प्रति वे लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे, यह नकली व्यवस्था केवल शक्ति (पशु-बल) की सहायता से स्थापित की जाती है, और शक्ति शासक और शासित दोनों को कुटिल बना देती है। इसलिए सच्ची सुव्यवस्था की बहुत कम आशा रह जाती है।

इसलिए एक आदर्श को प्राप्त करने में जल्दबाजी करने से बड़ी हानि होती है। उससे सफलता मिलना तो दूर, उलटे सफलता मिलती

भी हो तो उसमें बाधा पड़ जाती है।

अतएव इस प्रश्न का उत्तर कि—बिना बल-प्रयोग के मानव-समाज का सुसंगठन शीघ्र हो सकेगा अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि साधारण जन-समाज के शासक, जो सच्चे हृदय से लोगों की भलाई चाहते हैं, इस बात को शीघ्र समझ लें कि वे अपने आदर्श से ठीक उलटी दिशा में जा रहे हैं। पहले उन्हें इन बातों को छोड़ना होगा। अर्थात् पुराने ढकोसलों और मिथ्या विश्वासों को उन्हें छोड़ना होगा। शुद्ध धर्माचरण को स्वीकार करना होगा और लोगों की शक्ति को सरकार की सेवा और क्रान्ति तथा साम्यवाद की उपासना की ओर लगाने से इनकार करना होगा। यदि वे लोग, जो सचमुच शुद्ध हृदय के साथ अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं; केवल इतना समझ लें कि राज्य के समर्थकों और क्रान्ति-वादियों के बतलाये हुए समाज-संगठन के उपाय बिलकुल व्यर्थ और निष्फल हैं—यदि वे केवल इतना समझ लें कि लोगों को उनकी इस दुःखावस्था से मुक्त करने का उपाय उनके हाथों में है, अर्थात् केवल यह कि लोग स्वयं स्वार्थमय और नास्तिकों का-सा जीवन व्यतीत करना छोड़ दें, परस्पर भ्रातृ-भाव के साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करने लग जायं, और यदि वे इस सबसे बड़े और आदि नियम को अपने जीवन का एक-मात्र सिद्धान्त बना लें कि "मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे उसके साथ करें—तो हमारे रहन-सहन का यह सारा ढंग, जो बुद्धि-विरुद्ध एवं निर्दयतापूर्ण है, बड़ी शीघ्रता के साथ बदल जायगा, और उसके स्थान में लोगों के नवीन विचारों और ज्ञान के अनुसार नवीन रहन-सहन के ढंग का जन्म होगा।"

जरा विचार तो कीजिए, इस समय राज्य-संस्था—जिसके जीवन की अवधि आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है—तथा क्रांतियों से उसकी रक्षा में कितनी अधिक और उत्तम बुद्धि व्यय की जा रही है? कितने

उत्साही युवा पुरुष क्रान्तिकारी आन्दोलनों में, राज्य के साथ में असम्भव संग्राम करने में अपनी शक्ति का व्यय कर रहे हैं; और कितनी शक्ति साम्यवादी सिद्धान्तों की व्यर्थ परीक्षा में व्यय की जा रही है। इन सब बातों से उस कल्याण की प्राप्ति में विलम्ब ही नहीं हो रहा है, वरन् वह असम्भव हो रही है जिसके लिए सारा मनुष्य-समाज उद्योग कर रहा है। क्या ही अच्छा हो, यदि वे सभी मनुष्य, जो अपनी शक्ति को इस प्रकार व्यर्थ व्यय कर रहे हैं और कभी-कभी उससे अपने पड़ोसियों को हानि भी पहुंचा रहे हैं, अपनी इस शक्ति को उस काम में लगावें जिससे सामाजिक जीवन के अच्छे होने की सम्भावना है जिससे अपने अंतःकरण की शुद्धि हो।

एक मनुष्य नये मजबूत सामान से कितनी बार नया मकान बनाने में समर्थ हो सकेगा, अगर वह सारी मेहनत, जो पुराने मकान की मरम्मत में खर्च की गई है और अब भी की जा रही है दृढ़ता और होशियारी के साथ नये मकान के लिए मसाला तैयार करने और उस मकान के बनाने में खर्च की जाय। हां यह बात स्पष्ट है कि नया मकान कुछ खास-खास आदमियों के लिए इतना आराम और सुभीते का न होगा जितना कि पुराना था, पर निस्सन्देह वह पुराने की अपेक्षा अधिक मजबूत और टिकाऊ होगा, और उसमें उन सुधारों की भी पूर्ण सम्भावना होगी जो केवल कुछ खास-खास आदमियों के लिए ही नहीं बल्कि सभी आदमियों के लिए आवश्यक हैं।

इसलिए यहां पर मैंने जो कुछ भी कहा है, वह बिलकुल शुद्ध, सर्व-साधारण की समझ में आने योग्य और अखण्डनीय सत्य है। यही कि लोग स्वयं अच्छे बनेंगे, अपनी आत्मा को पवित्र रखेंगे तभी हमारा सामाजिक जीवन भी सुखमय और जीने योग्य हो सकेगा।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रवृत्त करने का केवल एक ही मार्ग है, अर्थात् यह कि समझदार मनुष्य स्वयं शुद्ध और सदाचार-मय

जीवन व्यतीत करें। इसलिए जो लोग मनुष्यों में शुद्ध और सदाचार-मय जीवन का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले खुद अंतःकरण की शुद्धि करें—उस शर्त को पूरा करें जो बाइबिल में इन शब्दों में प्रकट की गई है।

"अपने परम पिता के समान शुद्ध और पूर्ण बनो।"

*

: २ :

स्वदेश-प्रेम और सरकार

(१)

मैं पहले कई बार अपना यह विचार प्रकट कर चुका हूं कि स्वदेश-प्रेम का भाव इस समय बिलकुल अस्वाभाविक, विवेक-शून्य और हानिकारक है, और उन तमाम बुराइयों का कारण हो रहा है जिससे मनुष्य-समाज दुःख पा रहा है और त्राहि-त्राहि कर रहा है इसलिए, इस भाव को फैलाने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि इस समय किया जा रहा है, बल्कि, इसके विपरीत, उन सभी उपायों से दबाना और उनकी जड़ खोद फेंकना चाहिए जो विवेकवान् और बुद्धिमान् मनुष्यों को प्राप्त हो सकते हैं। तथापि आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि एक इसी भाव से प्रेरित होकर सारे संसार में सेनाओं का संगठन किया जा रहा है, और बड़े-बड़े युद्ध लड़े जा रहे हैं, जिनसे लोगों का सत्यानाश हो रहा है। मेरी ये सारी दलीलें, जिनमें यह बतलाया गया है कि यह स्वदेश-प्रेम कितना भ्रम-पूर्ण, इतिहास-विरुद्ध और हानिकारक है, या तो अनसुनी कर दी गई हैं या जान-बूझ कर उनको गलत समझा गया है। कुछ लोग यह विचित्र और अपरिवर्तनीय उत्तर देते हैं कि केवल कुत्सित स्वदेश-प्रेम ही बुरा है, परन्तु वास्तविक और उत्तम स्वदेश-प्रेम बड़ा ही ऊंचा और सुनीति-पूर्ण भाव है, जिसकी निन्दा करना मूर्खता ही नहीं वरन् दुष्टता है!

कोई यह बताने का कष्ट नहीं करता कि यह वास्तविक और उच्च-

कोटि का स्वदेश-प्रेम क्या है, यदि इस विषय में किसी ने कुछ कहा भी है तो उससे इस विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता, बल्कि किसी दूसरी चीज को ही स्वदेश-प्रेम की उपाधि दे दी जाती है जिसमें स्वदेश-प्रेम की कोई भी बात पाई नहीं जाती और जिसके कारण हम सब लोगों को इतने कठोर दुःख भोगने पड़ते हैं।

साधारणतः यह कहा जाता है कि असली और उत्तम कोटि का स्वदेश-प्रेम अपने देश-वासियों अथवा राज्य के लिए ऐसे वास्तविक लाभ की अभिलाषा करता है जिससे दूसरे देश वालों के हित में कोई बाधा न पड़े।

अभी हाल में एक अंग्रेज के साथ वर्तमान युद्ध[1] के विषय में बात-चीत करते हुए मैंने उनसे कहा कि युद्ध का वास्तविक कारण लोभ नहीं, जैसा कि प्रायः कहा जाता है, किन्तु स्वदेश-प्रेम है। इसका नमूना अंग्रेजी जाति है। यह अंग्रेज महाशय मुझसे सहमत न हुए। वे कहने लगे "यदि ऐसा ही हो, तो भी अंग्रेज़ों में इस समय जिस स्वदेश-प्रेम के भाव भरे हुए हैं वह एक नीचे दर्जे का कुत्सित स्वदेश-प्रेम है। उच्च-कोटि का स्वदेश-प्रेम (जैसा कि उसके अन्दर मौजूद था) तो वह कहा जा सकता है जब मनुष्य अच्छे-अच्छे लोक-हितकर काम करने लगे।"

"मैं चाहता हूं सभी लोग ऐसा ही करें।" वे फिर बोले। उनका अभिप्राय सच्चे अर्थात् नैतिक, पार्थिव और ऐसे कल्याण से था जिसका लाभ सबको एक-सा मिल सके। और इसलिए ऐसे लाभ की किसी एक मनुष्य-समाज के लिए ही इच्छा करना देश-प्रेम नहीं किन्तु देश-द्रोह है।

प्रत्येक मनुष्य-समाज के गुण-विशेष भी स्वदेश-प्रेम नहीं हैं; यद्यपि इन स्वदेश-प्रेम-समर्थकों की ओर से ये बातें भी स्वदेश-प्रेम में बतलाई जाती हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य-समाज में कुछ विशेषताएं होना मानव-उन्नति की आवश्यक शर्त है, और इसलिए इन विशेषताओं

---

[1]बोअर युद्ध

की रक्षा करना सच्चा स्वदेश-प्रेम और एक उत्तम और लाभ-प्रद भावना है। परन्तु एक बात स्पष्ट है। उसे भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। यदि एक समय में प्रत्येक मनुष्य की ये विशेषताएं—ये रस्म-रिवाज, उद्देश्य और भाषाएं मानव-जीवन के लिए आवश्यक शर्तें थीं, तो इस समय में ये विशेषताएं उस जीवन के मार्ग में रोड़े अटकाती हैं जो एक आदर्श जीवन समझा जाता है। परस्पर भ्रातृ-भाव से मिल-जुलकर रहना यही आजकल आदर्श-जीवन है। इसलिए किसी एक राष्ट्र की पृथक् राष्ट्रीयता को कायम रखने के आग्रह का फल होता है अन्य राष्ट्रों का इसी दशा में प्रवृत्त होना—रूस, जर्मनी, फ्रांस अथवा इंग्लैंड को अपनी राष्ट्रीयता का पोषण और रक्षा करते देख हंगरी, पोलैंड और आयर्लैंड को ही नहीं वरन् बास्क, प्रोवेंकल आदि अन्य देशों को भी अपनी राष्ट्रीय विशेषता की रक्षा करने की इच्छा जाग्रत होती है। दूसरे लोगों में प्रेम-भाव और ऐक्य-स्थापन होना तो दूर रहा, वे एक दूसरे से और भी दूर और अलग हो जाते हैं।

इसलिए काल्पनिक स्वदेशी-प्रेम की मैं बात नहीं करता। मैं तो वास्तविक और सच्चे स्वदेश-प्रेम के विषय में कह रहा हूँ जिससे हम सब लोग परिचित हैं, जिसके प्रवाह में आज सैंकड़ों मनुष्य बहे चले जा रहे हैं और जिससे मानव-समाज को इतनी अधिक क्षति पहुंच रही है। वह अपनी जाति के लिए आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा नहीं रखता (केवल अपनी जाति के लिए ही आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा करना असम्भव है); वह तो और सब जातियों और देशों को छोड़ अपनी जाति को लाभ पहुंचाने की एक उत्कट और निश्चित भावना है। और इसलिए यह स्वदेश-प्रेम अपनी जाति तथा राज्य के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाएं और शक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखता है; और इनकी प्राप्ति तो हमेशा दूसरे लोगों अथवा राज्यों की सुविधाओं और शक्ति को नुकसान पहुंचाकर ही की जा सकती है।

इस कारण यह स्वदेश-प्रेम (Potriotism) भाव की दृष्टि से

एक कुत्सित और निम्न कोटि का तथा हानिकारक भाव है और सिद्धान्त की दृष्टि से एक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त है। क्योंकि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राज्य अपने-आपको संसार भर के सब मनुष्यों और राज्यों में सर्वश्रेष्ठ समझने लगे, तो कहना होगा कि वे सभी एक भारी और हानिकारक भ्रम में पड़े हुए हैं।

(२)

कुछ लोगों को आशा हो सकती है, इस स्वदेश-प्रेम से होने वाली हानि और विवेक-शून्यता लोगों पर अपने-आप अवश्य प्रकट हो जायगी। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सुशिक्षित और विद्वान् पुरुष स्वयं ही उसे नहीं देख पाते, बल्कि जब कोई उसकी बुराइयां उन पर प्रकट करता है तो वे बड़ी सरगर्मी और सख्ती के साथ उसका विरोध करते हैं। हालांकि उनकी दलीलों में कोई सार नहीं होता।

पर इस सबका सार क्या है?

मुझे तो इस आश्चर्य-चकित कर देने वाली बात का केवल एक ही स्पष्टीकरण मिलता है।

आदि काल से लेकर अद्यावधि-पर्यन्त मानव-जाति का जितना भी कुछ इतिहास है, वह नीची-से-नीची कोटि के विचार रखने वालों से लेकर ऊंची-से-ऊंची कोटि का विचार रखने वाले व्यक्तियों तथा जन-समूहों के ज्ञान के विकास का इतिहास समझा जा सकता है। बल्कि यह तो एक ज्ञान-सोपान—ज्ञान का जीना—है, जिस पर चढ़कर जातियां पशु-जीवन से लेकर उच्चातिउच्च मानव-जीवन की श्रेणी तक पहुंची हैं।

प्रत्येक पृथक् जाति-समूह, राष्ट्र अथवा राज्य की भांति प्रत्येक मनुष्य विचारों की इस सीढ़ी के ऊपर क्रमशः आगे बढ़ता जाता है और अब भी बढ़ता जा रहा है। कुछ लोग आगे बढ़ रहे हैं, कुछ अभी पीछे ही पड़े हुए हैं और कुछ—जिनकी संख्या बहुत बड़ी है—सबसे आगे बढ़े हुए और सबसे पीछे पड़े हुए लोगों के बीच में हैं। परन्तु ये सभी लोग, फिर वे चाहे जीने की किसी भी सीढ़ी पर क्यों न हों, बिना

किसी रोक-थाम के नीचे से ऊंचे विचारों की ओर ही बढ़ रहे हैं। और हमेशा किसी एक निश्चित समय के ऊपर, भिन्न-भिन्न व्यक्ति और भिन्न-भिन्न जाति-समूह दोनों—(सबसे उच्चतम शिखर पर पहुंचे हुए, मध्य-श्रेणी वाले तथा पिछड़े हुए सभी) इन तीन प्रकार की श्रेणियों के अनुसार अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। जिनके साथ उनके तीन भिन्न-भिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

वे तीन विचार-श्रेणियां कौन-सी हैं ? हमेशा, व्यक्तियों और जाति-समूहों के लिए भी कुछ विचार भूत-काल-सम्बन्धी होते हैं, जो बिलकुल पुराने होते हैं और जिन्हें लोग भूले होते हैं। लोग पुनः उन विचारों पर वापस नहीं जा सकते।

कुछ विचार वर्तमान समय के हैं, जो शिक्षा के द्वारा, उदाहरण के द्वारा और चारों ओर काम करने वाले सर्व-साधारण लोगों के कार्यों से लोगों के दिमाग में भर दिये जाते हैं—और जो किसी निश्चित समय पर समाज में अपनी सत्ता चलाते हैं, उदाहरण के लिए संपत्ति, राज्य-संगठन, व्यापार, घरेलू पशुओं के उपयोग आदि के विषय में प्रचलित विचार।

कुछ विचार भविष्य के भी हैं, जिनमें से बहुतों का अनुभव पहले से ही हो रहा है और जो लोगों को अपने रहन-सहन के ढङ्ग में परिवर्तन करने और पहले के ढङ्गों का विरोध करने के लिए बाध्य कर रहे हैं—श्रम-जीवियों को स्वतंत्र करने, स्त्रियों को समानाधिकार देने और मांस-भक्षण न करने आदि के विचार इनमें प्रधान हैं। कुछ विचारों ने, यद्यपि वे पहले से ही स्वीकार कर लिये गए हैं, अभी रहन-सहन के पुराने तरीकों का विरोध करना आरम्भ नहीं किया है। ऐसे विचार (जिन्हें हम आदर्श के नाम से पुकारते हैं) बल-प्रयोग को हटा देना; सम्पत्ति का सार्वजनिक होना, विश्व-धर्म तथा सर्व-साधारण में भ्रातृ-प्रेम स्थापित करना आदि अभी हमारे सामने आदर्श कोटि में हैं।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अथवा जाति त्रिविध विचारों की तरंगों

द्वारा आन्दोलित होती रहती हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य के विचार। वह एक संग्राम ही होता है। नये विचारों का पुराने विचारों से संघर्ष होता है। प्रायः एक भूत-काल का विचार, जो किसी समय उपयोगी एवं आवश्यक रहा है, आगे चलकर अनुपयोगी और अनावश्यक हो जाता है, और वह छोटे-से संग्राम के पश्चात् एक नये विचार के लिए अपना स्थान खाली कर देता है। जो अब तक आदर्श था, अब कार्य-क्रम का रूप धारण कर लेता है।

परन्तु कभी-कभी एक पुराने विचार को एक खास जन-समाज इस-लिए नहीं छोड़ सकता कि उससे उसकी स्वार्थ-सिद्धि होती है यद्यपि औरों के लिए तो वह हानिकर ही होता है। तब वे लोग बड़ी चिन्ताशीलता के साथ उसकी रक्षा करते हैं। सारी परिस्थिति बदल जाने पर भी वे उसको प्रभावशाली बनाये रखने की कोशिश करते हैं। यह बात धार्मिक संप्रदायों में अक्सर पाई जाती है। पुरोहित और उपाध्याय कई बार निस्सार पुरानी बातों को इसलिए रखते हैं कि उससे उन्हें अर्थ-प्राप्ति होती है।

यही बात, राजनीतिक क्षेत्र में,राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में है जिसके ऊपर प्रत्येक राज्य का भार है। जिन लोगों के लिए ऐसा करना लाभदायक है वे कृत्रिम उपायों के द्वारा इन विचारों की रक्षा करते हैं, यद्यपि अब उसमें शक्ति और उपयोगिता दोनों का अभाव हो गया है। और चूंकि इन लोगों के पास दूसरों को प्रभावित करने के बड़े-बड़े शक्तिशाली साधन मौजूद हैं, वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने में सदैव समर्थ रहते हैं।

इस समय भी स्वदेश-प्रेम विषयक प्राचीन और विपरीत दिशा में बहने वाली आधुनिक विचार-धारा के बीच जो भेद है इसका रहस्य यही प्राचीनता की जीवनोत्कंठा है।

(३)

वह स्वदेश-प्रेम, जिसका आदर्श है केवल अपने स्व-जातीय जनों के

साथ ही प्रेम-भाव रखना और जो निर्बल मनुष्यों की उनके शत्रुओं द्वारा की जाने वाली हत्या तथा अत्याचारों से रक्षा करने के निमित्त अपने सुख, शान्ति, सम्पत्ति एवं अपने जीवन का भी त्याग कर देने को अपना धर्म समझता है—वह स्वदेश-प्रेम उस समय में ज़रूर एक उच्च-तम कोटि का विचार था जब प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगों के वध को एवं उन पर अत्याचार करने को एक सुगम और न्याय-युक्त कार्य समझता था।

परन्तु इससे पूर्व, लगभग दो सहस्र वर्ष हुए, मानव-समाज ने उच्च कोटि के विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा मनुष्यों में पारस्परिक भ्रातृ-भाव की स्थापना के उच्चतर विचार को, स्वीकार किया; और उस विचार ने लोगों के हृदयों में धीरे-धीरे प्रवेश करते-करते आज अनेक भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिये हैं। धन्यवाद है उन रेल, तार, मोटर आदि आने-जाने के समुन्नत साधनों तथा कारीगरी, व्यापार, कला-कौशल और विज्ञान को कि जिनकी बदौलत लोग आज एक दूसरे के साथ इस प्रकार बंध गये हैं कि किसी पड़ौसी जाति की ओर से किये जाने वाले कत्ल और अत्याचार अथवा उसके द्वारा विजित किये जाने का भय बिलकुल नहीं रह गया है, और सब लोग (केवल लोग ही, सरकारें नहीं) आपस में शान्ति के साथ, परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुंचाते हुए, मित्र-भाव का और व्यापारी सम्बन्ध रखे रहते हैं। इसमें किसी का परिवर्तन करने की न कोई उन्हें आवश्यकता है और न वे ऐसा करना चाहते ही हैं। और इसलिए लोग यह समझते होंगे कि स्वदेश-प्रेम के प्राचीन भाव में (जो अब व्यर्थ-सा हो गया है और उस भ्रातृ-भाव के बिलकुल प्रतिकूल है जो हमें इन चीजों की बदौलत प्राप्त हुआ है) धीरे-धीरे कमी होती जायगी और अन्त में बिलकुल नष्ट हो जायगा। पर तो भी इसके बिलकुल विपरीत बात हो रही है—इस हानि-कारक और प्राचीन कूपमंडूक भाव का केवल अस्तित्व ही नहीं बना रहता वरन् वह अधिकाधिक तेज़ी के साथ धधकता जा रहा है।

लोग बिना किसी उचित कारण के तथा नीति-अनीति और अपने हित का भी खयाल छोड़कर इन सरकारों के साथ सहानुभूति रखते हैं। जब वे दूसरे राष्ट्रों के ऊपर आक्रमण करती हैं, दूसरे देश वालों के प्रदेश और सम्पत्ति छीन लेती हैं, और जो कुछ वे पहले चुरा चुकी हैं, उसकी पशु-बल के द्वारा रक्षा करती हैं। वे केवल सहानुभूति ही नहीं रखते, किन्तु स्वयं भी ऐसे आक्रमणों, लूटों और ऐसी रक्षा के लिए उत्सुक रहते हैं; बल्कि ऐसे कामों में आनन्द मानते हैं; और उस पर गर्व करते हैं। इन अत्याचारों से पीड़ित छोटे-छोटे देश, जो बड़ी-बड़ी रियासतों के आधिपत्य में आ गये हैं—पोलैंड, आयर्लैंण्ड, बोहेमियां, फिनलैंड अथवा अरमीनिया—अपने विजेताओं के स्वदेश-प्रेम का, जो उनके उस उत्पीड़न का कारण है, विरोध करते हुए भी अपने विजेताओं से उत्पीड़क स्वदेश-प्रेम की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और वे अपनी सारी शक्ति इसी भाव के अनुसार काम करने में व्यय कर देते हैं। और स्वयं अपने से बलवान् राष्ट्रों के स्वदेश-प्रेम से कष्ट पाते हुए भी इसी स्वदेश-प्रेम से प्रेरित होकर दूसरे लोगों के साथ वही अन्याय और अत्याचार करते हैं जो उनके उत्पीड़कों ने उनके साथ किया है और अब भी कर रहे हैं।

यह सब इसलिए होता है कि शासक-समाज के लोग (जिनमें केवल असली शासन करने वाले लोग और उनके कर्मचारी ही सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु वे सभी लोग शामिल हैं, जो विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं—पूंजीपति, पत्र-सम्पादक, तथा बहुत से कला-कुशल और वैज्ञानिक आदि—) अपनी इस स्थति को—जो श्रमजीवी समाज की स्थिति के मुकाबले में कहीं अधिक लाभदायक और सुविधा-जनक है—बनाये रख सकते हैं। अनेक धन्यवाद है इस राजकीय संगठन को जिसकी भित्ति ऐसे स्वदेश-प्रेम के ऊपर है। उनके हाथ में लोगों को प्रभावित करने वाले सभी शक्तिशाली साधन मौजूद रहते हैं, और वे हमेशा बड़े परिश्रम के साथ अपने तथा दूसरे लोगों के अन्दर उस

स्वदेश-प्रेम के भावों का समर्थन करते रहते हैं, विशेष कर जो भाव सरकार की शक्ति की पुष्टि करते हैं, उनके बदले में सरकार की ओर से बड़े-बड़े इनाम और बख्शीशें मिलती हैं।

जितना ही अधिक जिस कर्मचारी के अन्दर स्वदेश-प्रेम के भाव होंगे, उतना ही अधिक वह अपने जीवन में सफल होगा। उसी प्रकार फौज के सिपाही को भी युद्ध-काल में ही तरक्की मिलती है; और युद्धों की जड़ भी स्वदेश-प्रेम ही है।

स्वदेश-प्रेम और उसके परिणाम—युद्ध से समाचार-पत्रों को बहुत बड़ी आय होती है और दूसरे बहुत से व्यवसायों को भी लाभ पहुंचता है। प्रत्येक लेखक, अध्यापक और प्रोफेसर जितना ही अधिक स्वदेश-प्रेम की शिक्षा देता है उतना ही अधिक वह सुरक्षित रहता है। प्रत्येक महाराजा और सम्राट् को उतनी ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त होती है जितना अधिक वह इस स्वदेश-प्रेम का आश्रय लेता है।

शासकों के हाथ में सेना, रुपया-पैसा, स्कूल, गिर्जा तथा प्रेस सभी कुछ होता है। स्कूलों में वे बच्चों के अन्दर इस स्वदेश-प्रेम की आग उन इतिहास की पुस्तकों द्वारा उत्पन्न करते हैं जिनमें अपने ही देश के लोगों को संसार-भर के मनुष्यों में उत्कृष्ट और सत्-पथ-गामी बतलाया गया है। युवकों के अन्दर वे इसे प्रदर्शिनियों;बड़े-बड़े जलसों,स्मारकों तथा मिथ्या-भाषण-पटु स्वदेश-प्रेम की डींग मारने वाले समाचार-पत्रों और पुस्तकों के द्वारा भरते हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेश-प्रेम की ज्वाला धधकाने की एक और बड़ी अच्छी युक्ति है। पहले दूसरे राष्ट्रों के साथ हर तरह का अन्याय और सख्ती करके उनमें अपने ही लोगों के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न किया जाता है और फिर इस वैर-भाव की सहायता से स्वयं अपने लोगों को विदेश वालों के विरुद्ध भड़काते हैं और उनमें शत्रुता के भाव भरते हैं।

स्वदेश-प्रेम का यह भयंकर भाव यूरोपियन लोगों में बड़ी तीव्र गति के साथ फैल गया है, और हमारे इस समय में आखिरी हद को

पहुंच गया है जिसके आगे उसके विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है।

(४)

बहुत पुरानी बात नहीं, अभी एक ऐसी घटना घटी थी जिससे यह साफ जाहिर होता है कि ईसाई जगत् में इस स्वदेश-प्रेम का कैसा भयंकर नशा पैदा हो गया है।

जर्मनी के शासकों ने अपने देश के अशिक्षित जनों में स्वदेश-प्रेम को ऐसा भड़काया कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में एक विचित्र कानून की व्यवस्था की गई। उस कानून के अनुसार सभी लोगों को सैनिक बनना पड़ता था। बालक, युवा, वृद्ध, विद्वान् और धर्माचार्य सभी को नर-हत्या करने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। सेना के उच्च-कर्मचारियों के हाथ में बिलकुल कठपुतली बनकर रहना पड़ता था, और जिस किसी के लिए भी हुक्म दिया जाय उसे यमलोक पहुंचा देने के लिए हर समय तैयार रहना पड़ता था। उत्पीड़ित देश के निवासियों तथा अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाले स्वयं अपने देश—भाई श्रमजीवियों को—यहां तक कि स्वयं अपने बाप और भाइयों तक को मार डालने के लिए तैयार रहना पड़ता था। उस निर्लज्ज बादशाह विलियम द्वितीय ने खुले तौर पर यह सब घोषित कर दिया था।[1]

इस बात को कि जिसने लोगों के हृदयों में एक विचित्र क्रान्ति उत्पन्न कर दी, जर्मनी के लोगों ने स्वदेश-प्रेम के आवेग में आकर बिना किसी चूं-चां के स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने फ्रांसीसियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। इस विजय ने जर्मनी के और इसके बाद फ्रान्स, रूस तथा अन्य देश-शासकों के हृदयों में इस स्वदेश-प्रेम के भाव को और भी उत्तेजित कर दिया; और इस

१ गत यूरोपीय महायुद्ध को टॉल्स्टॉय नहीं देख सके जो उनकी मृत्यु के चार ही वर्ष बाद अर्थात् १९१४ में छिड़ा और लगातार ४।५ वर्ष तक धन-जन की भयंकर हानि करता रहा। सं०

कारण यूरोप के सभी देशों ने भी बिना किसी भी रुकावट के सैनिक-सेवा को सिर झुका दिया। अर्थात् ऐसी पराधीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसमें प्राचीन समय की किसी भी दासता की अपेक्षा अधिक बेइज्जती और पराधीनता है। इस प्रकार जब सभी देश-प्रेम के भावों के दास बनने लगे तो सरकारों की निर्भयता, निर्दयता और मदान्धता की सीमा न रह गई। अब वे लोग, मिथ्याभिमान और झक में आकर एशिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि देशों में दूसरों की जमीन छीनने लगे। और घृणित काम में एक दूसरों की प्रतिस्पर्धा करने लगे। फलतः इन सरकारों में अधिकाधिक अविश्वास और द्वेष-भाव की मात्रा बढ़ने लगी।

अब अधिकृत देशों के लोगों का वध करना और उनको भांति-भांति की पीड़ा देना एक बिलकुल उचित और स्वाभाविक कार्य समझा जाने लगा। प्रश्न केवल यह था कि सबसे पहले कौन दूसरे लोगों की जमीन छीनता है और उस पर रहनेवाले लोगों का नाश करता है। संसार की समस्त सरकारों ने विजित देशों के सम्बन्ध में तथा परस्पर एक दूसरे के सम्बन्ध में न्याय के प्रारम्भिक नियमों का केवल उल्लंघन ही नहीं कर दिया है, किन्तु वे हर तरह के छल-कपट, ठगाई, घूसखोरी, धोखे-बाजी, दूत-कार्य, डाकेजनी और नर-हत्या आदि की भी दोषी रही हैं और अब भी हैं; और लोग भी केवल इन सब कामों में उनका समर्थन ही नहीं करते रहे हैं वरन् जब वे देखते हैं कि यह उन्हीं की सरकार है कोई और नहीं। जो ऐसे अपराधपूर्ण कामों को करती है, तो वे बहुत प्रसन्न होते हैं और आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

भिन्न-भिन्न देशों तथा राज्यों की पारस्परिक शत्रुता ऐसी आश्चर्य-जनक सीमा को पहुंच गई है कि यद्यपि एक राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण (चढ़ाई) करने के लिए कोई कारण नहीं है तथापि प्रत्येक मनुष्य इस बात को जानता है कि सभी सरकारें इस समय अपने-अपने पंजे फैलाये और दांत निकाले इस घात में बैठी हैं कि कब किस देश

पर कुछ संकट आये, वह निर्बल हो और कब वे उसे चीर-फाड़कर अलग कर दें।

ईसाई समझा जाने वाला संसार का सारा-का-सारा जन-समाज इस स्वदेश-प्रेम के फन्दे में पड़कर ऐसा पशुवत् बन गया है कि केवल वही लोग हत्या के इच्छुक नहीं हैं और वे इन हत्याओं में आनन्द नहीं मानते जो मारने अथवा मारे जाने के लिए बाध्य हैं, किन्तु यूरोप और अमेरिका के सभी लोग भी निर्भय होकर अपने घरों में शांति-मय जीवन व्यतीत कर रहे हैं—आमद-रफ्त की सुविधाओं और प्रेम की बदौलत—प्रत्येक युद्ध के समय उसी आनन्द का अनुभव करते हैं जैसा कि रोम के अखाड़े में बैठे हुए दर्शक करते हैं। उन्हीं की तरह वे मनुष्य-हत्या को देखकर प्रसन्न होते हैं और 'कत्ल कर दो' की आवाज बुलन्द करते हैं।

केवल युवक ही नहीं, किन्तु बच्चे—शुद्ध अन्तःकरण वाले और बुद्धिमान् बच्चे भी—अपने देश और जाति के अनुसार खुशी मनाते हैं, जिस समय वे सुनते हैं कि बम अथवा दूसरे विस्फोटक पदार्थों से मरे हुए और घायल मनुष्यों की संख्या सात सौ नहीं किन्तु एक हजार अंग्रेज अथवा बोअर हैं।

और माता-पिता (मुझे ऐसे बहुत से उदाहरण मालूम हैं) इस पाशविक कार्य में अपने बच्चों को प्रोत्साहन देते रहते हैं।

परन्तु यहीं पर सब बातों का अन्त नहीं हो जाता। जब कोई राष्ट्र अपनी सेना में वृद्धि करता है, (जब किसी राष्ट्र को किसी प्रकार के खतरे का कोई भय होता है तो वह अपने स्वदेश-प्रेम के भाव से प्रेरित होकर अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने में लग जाता है) तो पड़ोसी राष्ट्र भी अपनी-अपनी सेनाओं में वृद्धि करने के लिए बाध्य होते हैं। इसका भी कारण उनका स्वदेश-प्रेम ही होता है। और इससे पहले वाले राष्ट्र को अपने सैन्य-बल में और भी वृद्धि करने की उत्सुकता होती है।

यही बात दुर्ग-निर्माण और जहाजी बेड़ा तैयार करने आदि के सम्बन्ध में भी है। किसी एक राज्य ने दस गढ़ बनाये, दूसरे पड़ोसी ने यह देखकर ग्यारह बना दिये। इस पर पहले ने बारह बना दिये और इस प्रकार इनकी संख्या का कोई ठिकाना नहीं रह जाता।

"मैं तुम्हें चुटकी काट खाऊंगा।" "मैं तुम्हारा सिर फोड़ दूंगा।" "मैं तुम्हें डंडों से पीटूंगा।" "मैं तुम्हें तलवार भोंककर मार डालूंगा।" "और मैं तुम्हें गोली मार दूंगा।"

केवल शैतान लड़के, मदकची आदमी अथवा पशु (जानवर) इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि ठीक यही बातें सभ्यता की पताका फहराने वाली सरकारों के बड़े-बड़े प्रतिनिधियों में कही जाती हैं—उन्हीं लोगों में जो अपनी प्रजा को नैतिक ज्ञान और शिक्षा देने का बीमा लेते हैं।

(५)

दशा दिन-पर-दिन बिगड़ती ही जाती है। तबाही की ओर बढ़ती हुई स्थिति में किसी प्रकार का सुधार करने और इस तबाही को रोकने का कुछ भी प्रयत्न नहीं हो रहा है।

संकट-मय अवस्था से निकल भागने के लिए सिर्फ मार्ग में भोले-भाले आदमियों का एक विश्वास था। पर वह भी हाल की घटनाओं से नष्ट हो गया है। मेरा तात्पर्य हेग-कान्फ्रेंस और उसके बाद इंग्लैण्ड और ट्रांसवाल के बीच होने वाले युद्ध से है।

यदि वे लोग, जो बहुत थोड़ा सोचते हैं अथवा जिनके विचारों में गम्भीरता नहीं होती, इसी विचार से संतुष्ट हो जाया करते थे कि अन्तर-राष्ट्रीय पंचायती अदालतों की स्थापना से युद्ध बन्द हो जायंगे, और प्रतिदिन बढ़ने वाला शस्त्रीकरण रुक जायगा, तो हेग—कान्फ्रेंस और उसके बाद होने वाले समर ने साफ तौर पर इस बात को प्रगट कर दिया कि इस कठिनाई का इस प्रकार से दूर किया जाना असम्भव है। हेग—कान्फ्रेंस के बाद यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई कि जब तक

इन सरकारों तथा उनके सैन्य-बल का अस्तित्व बना रहेगा तब तक सामरिक सेनाओं के संगठन और युद्ध का बन्द होना असम्भव है। लोगों में उचित समझौता तब हो सकता है जब कि सब लोग एक दूसरे पर विश्वास करने लगेंगे तब सरकारें अपने-अपने हथियार खोल-कर रख देंगी, जैसा कि कान्फ्रेंस करने के लिए मिलते समय पार्लमेंट के सदस्य लोग किया करते हैं।

जब तक सरकारें, एक दूसरे पर अविश्वास करके, अपनी फौज तोड़ देने अथवा उनके घटाने के बदले अपने पड़ोसियों की देखा-देखी अपना सैन्य-बल बढ़ाती रहेंगी, गुप्तचरों के द्वारा सेनाओं की हर एक चाल को गौर से देखती रहेंगी, तथा मौका पाते ही प्रत्येक शक्ति अपने पड़ोसी के ऊपर आक्रमण कर बैठेगी, तब तक आपस में समझौता होना असम्भव है। और ऐसी दशा में की जाने वाली हर एक कान्फ्रेंस या तो निरी मूर्खता होगी या एक मन-बहलाव, धोखेबाजी, बेहूदगी, अथवा ये चारों होगी।

किसी अन्य सरकार की अपेक्षा यह बात विशेष रूप से रूसी सरकार को ही फबती थी कि वह हेग-कान्फ्रेंस करे ? चूंकि उसके झूठे इजहारों और हुक्मनामों का जवाब देने की देश के अन्दर किसी को भी आज्ञा न थी, इसलिए रूस की सरकार ऐसी बिगड़ गई है कि बिना लेश-मात्र भी संकोच के उसने सैनिक-संगठन करके अपने देश के निवासियों का सत्यानाश कर दिया, पोलैण्ड का गला घोंट डाला, तुर्किस्तान और चीन को लूट लिया, और जिस समय वह फिनलैण्ड का दम घोंटने में लगी हुई थी उस समय उसने सरकारों के निःशस्त्री-करण की तजवीज पेश की। उसे इस बात का पूर्ण विश्वास था कि लोग उस पर विश्वास कर लेंगे।

ऐसी तजवीज सचमुच विचित्र, अनपेक्षित और असभ्य थी, विशेष-कर उस समय जब दूसरी तरफ अपनी सेना में वृद्धि की जाने के लिए आज्ञाएं निकल रही थीं! परन्तु जो बातें खुले तौर पर कही गई थीं

वे केवल एक मजाक थीं और उनमें साफ तौर पर कोई सत्य नहीं दिखलाई पड़ता था और दूसरे देशों की सरकारें भी पहले से जानती थीं कि इसका परिणाम कुछ भी नहीं होगा। प्रतिनिधि एकत्र हुए और कई सप्ताह तक, जिनमें उन्हें अच्छा वेतन मिलता रहा, विचार हुआ यद्यपि वे चुपके-चुपके मन-ही-मन हंसते हुए ईमानदारी के साथ इसी बात का बहाना करते रहे कि वे संसार के समस्त राष्ट्रों में शान्ति-स्थापना का प्रबन्ध करने में व्यस्त हैं।

हेग-कान्फ्रेंस का परिणाम यद्यपि ट्रांसवाल के युद्ध का भयंकर रक्तपात हुआ, जिसके रोकने का न किसी ने उस समय कोई प्रयत्न किया और न इस समय कर रहा है, तो भी इससे कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य हुआ, यद्यपि इससे जिस लाभ की आशा की जाती थी वह नहीं हो सका। लाभ यह हुआ कि उसने यह बात साफ तौर से प्रकट कर दी कि जिन बुराइयों के कारण लोग दुःख भोग रहे हैं उनका सुधार सरकारों के किये नहीं हो सकता। सरकारें ऐसा चाहें तो भी वे सैनिक-संगठन को न रोक सकती हैं और न इनके परिणाम से होने वाली लड़ाइयों को।

अपना अस्तित्व बनाये रखने का कोई-न-कोई कारण बताने के लिए सरकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने देश-वासियों की दूसरे लोगों के आक्रमणों से रक्षा करें। परन्तु एक भी देश ऐसा नहीं है जहां के लोग दूसरे देश वालों पर आक्रमण करना चाहते हों, या आक्रमण करते हों। और इसलिए सरकारें शान्ति-स्थापन की अभिलाषा रखने के बदले बड़ी होशियारी के साथ अपने विरुद्ध दूसर राष्ट्रों को भड़का देती हैं। और इस प्रकार अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों को भड़काकर तथा स्वयं अपने देश-वासियों में स्वदेश-प्रेम के भावों को उत्तेजित कर, बाद में प्रत्येक देश की सरकार अपने लोगों पर यह प्रकट करती है कि वह खतरे में है और इसलिए इससे उसकी रक्षा की जानी चाहिए।

हाथ में शक्ति होने के कारण सरकारें ये दोनों बातें कर सकती हैं,

दूसरी कौमों को छोड़ भी सकती हैं और अपने देशवासियों में स्वदेश-प्रेम के भावों को भी उत्तेजित कर सकती हैं; और वे सजगता के साथ इन दोनों बातों को करती भी हैं। इसके विपरीत वे कुछ कर भी नहीं सकतीं, क्योंकि उनका अस्तित्व इन्हीं बातों के आधार पर है।

अगर पहले जमाने में सरकारों की इस बात के लिए आवश्यकता थी कि वे अपने देशवासियों को दूसरे देशवासियों के हमलों से बचावें, तो आज, इसके विपरीत, यही सरकारें संसार की शान्ति-भंग करने का कारण हो रही हैं और नाना प्रकार के शान्ति-भंग के कृत्रिम उपायों को ढूंढ़ निकालती हैं और उनमें आपस में वैर-भाव बढ़ाया करती हैं।

जब खेत में बीज बोने के लिए खेत का जोतना आवश्यक था, उस समय खेत में हल चलाना एक बुद्धिमत्ता का काम था; परन्तु बीज बो चुकने के बाद भी खेत को जोतते जाना निरी मूर्खता है और इससे लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। किन्तु ये सरकारें अपने देश-वासियों को यही बात करने के लिए मजबूर किया करती हैं—वे उस एकता को, जो लोगों के अन्दर मौजूद है और जिसे यदि इन सरकारों का अस्तित्व न होता, तो कोई भी नहीं तोड़ सकता, भंग कर देने के लिए लोगों को मजबूर कर रही हैं।

(६)

लोगों का खयाल है कि वे इन सरकारों के बिना रह नहीं सकते। पर वास्तव में ये सरकारें क्या हैं?

किसी समय ऐसी अवस्था रही होगी जब ऐसी सरकारों की आव-श्यकता थी और जब संगठित पड़ोसियों के अत्याचार सहने की अपेक्षा इन सरकारों का स्वीकार करना लोगों ने उतना बुरा न समझा हो। परन्तु अब ऐसी सरकारें बिलकुल अनावश्यक हो गई हैं, और उन तमाम खतरों से, जिनसे वे अपनी प्रजा को भयभीत करती रहती हैं, कहीं अधिक बुरी हैं।

केवल सैनिक सरकारें ही नहीं किन्तु सभी सरकारें उपयोगी नहीं

तो कम-से-कम ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनसे हानि न पहुंचे, यदि वे शुद्ध अन्तःकरण वाले लोगों और धर्मात्मा आदमियों की ही बनी हुई हों; जैसा कि चीनियों के बारे में खयाल किया जा सकता है। परन्तु ये सरकारें, जैसा कि उनके कार्य से (जिसमें बल-प्रयोग अथवा हिंसा के काम शामिल हैं) विदित होता है, हमेशा ऐसे लोगों की बनी हुई होती हैं जो अन्तःकरण की शुद्धता और पवित्रता का नाम तक नहीं जानते—जो बिलकुल निरंकुश अविवेकशील और पतित मनुष्य हैं।

इसलिए सरकार, विशेषकर ऐसी सरकार जिसके हाथ में सैनिक शक्ति हो, एक महान्-से-महान् खतरनाक संगठन है।

विस्तृत अर्थ में पूंजीपति और प्रेस तथा समाचार-पत्रों के मालिक आदि सभी सरकार में शामिल हैं। यह एक ऐसा संगठन है जिसके कारण बहु-संख्यक जन-समाज को अल्प-संख्यक लोगों के अधिकार में रहना पड़ता है जो उनके ऊपर शासन करते हैं। ये अल्प-संख्यक लोग इनसे भी अल्प-संख्यक लोगों की अधीनता में पहुंच जाते हैं और फिर इन पर उससे भी अल्प-संख्यक लोगों का शासन होता है यहां तक कि अन्त में यह संख्या एक मुट्ठी-भर आदमियों अथवा एक व्यक्ति तक पहुंच जाती है, जो सैनिक-बल के आधार पर शेष समस्त जन-समाज के ऊपर शासन करता है। इस प्रकार यह सारा संगठन एक शिखराकार के समान बन जाता है जिसके सम्पूर्ण भाग उन व्यक्तियों अथवा उस एक व्यक्ति की अधीनता में हैं जो सबसे ऊंचे सिरे (शिखर) के ऊपर विराजमान हैं अथवा विराजमान है।

इस शिखराकार (Cone) की चोटी उन लोगों के अथवा उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के हाथ में पहुंच जाती है जो शेष लोगों की अपेक्षा अधिक चालाक, निरंकुश और सिद्धान्त-विहीन होते हैं अथवा किसी ऐसे व्यक्ति के हाथ में पहुंच जाती है जो दैवयोग से ऐसे लोगों

का उत्तराधिकारी (वारिस) हो जाता है जो निरंकुश और सिद्धान्त-विहीन मनुष्य थे।

इन सरकारों को केवल लोगों की जायदाद और जिन्दगी के ऊपर ही नहीं, किन्तु प्रत्येक मनुष्य की मानसिक (आध्यात्मिक ?) और नैतिक उन्नति—प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा और धार्मिक पथ-प्रदर्शन के ऊपर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है।

लोग शक्ति का ऐसा भयंकर यंत्र बनाकर खड़ा कर देते हैं और जो कोई मनुष्य उसे अपने अधिकार में ले सके उसे अपने अधिकार में लेने देते हैं (और अक्सर इसे वही पाते हैं जो नैतिक दृष्टि से बिलकुल अयोग्य और मनुष्य होते हैं)—इसके बाद लोग गुलामों की भांति अपना सर्वस्व उसके चरणों पर रख देते हैं, और बाद में फिर इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि इसका परिणाम बुरा हो रहा है। उन्हें क्रान्तिवादी अराजकों के बम का भय रहता है, पर इस खौफनाक संगठन का भय नहीं रहता जो बड़ी-से-बड़ी और भयंकर विपत्ति का पहाड़ उन पर ढाने की हमेशा चेष्टा करता रहता है।

लोगों ने इस बात में आराम और सुविधा देखी कि शत्रुओं को रोकने के लिए वे अपने-आपको एक दूसरे के साथ बांध लें, जैसा कि अपने ऊपर होने वाले हमलों को रोकते समय सरकेसियन लोग (Circassians) किया करते थे।[1] परन्तु वह भय अब बिलकुल जाता रहा है। तो भी लोग अपने-आपको आपस में एक दूसरे से उसी तरह बांधते ही चले जाते हैं—अर्थात् अब भी उसी प्रथा के गुलाम बने हुए हैं।

वे बड़ी होशियारी के साथ अपने-आपको बांधते हैं जिससे एक ही मनुष्य उन्हें अपने काबू में कर ले। इसके बाद वे उस रस्से के सिरे

---

[1] यह एक जंगली जाति है। शत्रु जब हमला करते थे तब वे अपने बचाव के लिए एक दूसरे की टांगें बांध लेते थे, जिससे कोई भागने न पावें, सभी एक साथ जियें या मरें।—सं०

को छोड़ देते हैं जिसमें वे बंधे होते हैं और जो उनके पीछे-पीछे जमीन पर घिसता रहता है। फिर तो कोई भी दुष्ट अथवा बेवकूफ आदमी उन्हें पकड़कर जिस तरह चाहे उन्हें कष्ट और हानि पहुंचा सकता है।

किसी संगठित और सैनिक सरकार को बनाने और उसकी अधीनता स्वीकार करके उसका पोषण करने वाले लोग वास्तव में सिवा ठीक इसी बात के और क्या करते हैं ?

(७)

सैन्य-संगठन तथा युद्ध की बुराइयां हमेशा बढ़ती ही जाती हैं। लोगों को इनसे मुक्त करने के लिए न बड़ी-बड़ी सभाओं की जरूरत है, न कान्फ्रेंसों की और न सुलहनामों अथवा पंचायती अदालतों की। सिर्फ बल-प्रयोग (हिंसा) के उन कारणों को नष्ट कर देने की आवश्यकता है जो सरकार के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनसे मानव-समाज की बड़ी-से-बड़ी हानि हो रही है।

सरकारी बल-प्रयोग को नष्ट करने के लिए केवल एक ही बात की आवश्यकता है, अर्थात् यह कि लोग इस बात को समझ लें कि स्वदेश-प्रेम का भाव जो इस बल-प्रयोग के यंत्र का एक मात्र समर्थक और पोषक है, एक असभ्यतापूर्ण, हानिकारक, निन्द्य, कुत्सित, बिलकुल निम्न श्रेणी का और नीति-विरुद्ध भाव है। यह असभ्यतापूर्ण भाव इसलिए है कि यह केवल उन्हीं लोगों के स्वभाव के अनुकूल है जो नैतिक दृष्टि से निम्न-से-निम्न श्रेणी के मनुष्य हैं और दूसरी जातियों से भी ऐसे ही अत्याचारों की आशा करते हैं जिन्हें वे दूसरे लोगों के ऊपर किया करते हैं। यह हानिकारक इसलिए है कि वह दूसरे लोगों के साथ होने वाले लाभ-प्रद और आनन्द-वर्धक शान्तिमय सम्बन्ध में विघ्न डालता है। इसके अतिरिक्त वह उस राजनीतिक संगठन को जन्म देता है जिसमें निकृष्ट-से-निकृष्ट आदमियों के हाथ में सत्ता जाने की संभावना रहती है और वस्तुतः वह उनके हाथों में पहुंच भी जाती है। यह एक निन्द्य भाव इसलिए है कि वह मनुष्य को केवल दासत्व में

ही नहीं डाल देता, किन्तु उसे एक लड़ने वाला मुर्गा, बैल या कातिल बना देता है, जो अपनी सारी शक्ति और अपना सारा जीवन ऐसे कामों में व्यय किया करता है जिनसे उसको नहीं, वरन् उसकी सरकार को ही लाभ पहुंचता है। और यह भाव अनीति-पूर्ण इसलिए है कि अपने-आपको ईश्वर की सन्तान समझने के बदले, जैसी कि धर्म की शिक्षा है, अथवा स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि के बल पर अपने को एक स्वतन्त्र मनुष्य मानने के बदले प्रत्येक मनुष्य स्वदेश-प्रेम के वशीभूत होकर अपने को अपनी मातृभूमि की सन्तान और अपनी सरकार का दास (गुलाम) मानने लगता है, और ऐसे कार्य करने लगता है जो उसकी बुद्धि और आत्मा दोनों के विरुद्ध होते हैं।

आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि लोग इस बात को समझ लें। फिर तो यह भयंकर पाश जो सरकार के नाम से प्रसिद्ध है, जिससे हम सब लोग आपस में बड़ी मजबूती के साथ जकड़े हुए हैं, आपसे-आप बिना किसी झगड़े के टुकड़े-टुकड़े हो जायगा; और इसी के साथ-साथ उन भयंकर और हानिकर बुराइयों का भी अन्त हो जायगा जो इससे उत्पन्न होती हैं।

और लोग इस बात को समझने भी लग गये हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राज्य (United States) के एक नागरिक ने अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये हैं:—

"हम लोग किसान, कारीगर, सौदागर, तरह-तरह की चीजें बनाने वाले, और अध्यापक (शिक्षक) सभी कुछ हैं, और हमारी प्रार्थना केवल यह है कि हमको अपने-अपने काम करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहे। हम अपने मकानों के मालिक हैं, अपने-अपने मित्रों से प्रेम करते हैं, अपने परिवार में लगे रहते हैं, और अपने बाहरी निकटस्थ पड़ोसियों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करते हमारे पास करने को काम है और हम काम करना चाहते हैं। आप हमारी चिन्ता न करें और हमें अपने ही ऊपर छोड़ दें।

"परंतु ये लोग—ये कुशल राजनीतिज्ञ हमें ऐसा कभी न करने देंगे। वे इस बात पर तुले हुए हैं कि वे हमारे ऊपर शासन करें और हमारी कमाई के ऊपर गुलछर्रे उड़ावें, और उसके लिए वे जिद भी करते हैं। वे हमसे तरह-तरह के टैक्स वसूल करते हैं, हमारी सम्पत्ति (जीविका) चट किये जाते हैं, हमें सेना में भर्ती करते हैं और हमारे बच्चों को अपनी लड़ाइयों में घसीट ले जाते हैं। हजारों-लाखों आदमी-जिनकी जीविका सरकार के ऊपर निर्भर है, सरकार द्वारा हमारे ऊपर लगाये गए टैक्स पर ही ऐश उड़ाते हैं और इसलिए कि सरकारें हमसे टैक्स वसूल करने में सफल हो सकें, बड़ी-बड़ी सेनाएं रखी जाती हैं। यह कहना कि सेना की आवश्यकता देश की रक्षा के लिए है, बिलकुल फरेब और बहानेबाजी की बातें हैं। फ्रांस की सरकार लोगों को यह कहकर डराती है कि जर्मन लोग उन पर हमला करने को तैयार हैं; रूस वाले अंग्रेजों से डरते हैं, अंग्रेज लोग हर एक से डरते हैं, और अब अमेरिका में, हम लोगों से कहा जाता है कि तुम अपना जहाजी बेड़ा बढ़ाओ और अपनी सेना में भी वृद्धि करो, क्योंकि न जाने किस समय यूरोप वाले मिलकर तुम्हारे ऊपर चढ़ाई कर दें।

"यह बिलकुल कपट-पूर्ण और मिथ्या बात है। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका के सीधे-सादे और सच्चे आदमी लड़ाई के बिलकुल विरुद्ध हैं। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि हमारी जान छोड़ दी जाय। ऐसे आदमी, जिनके स्त्री और बच्चे हैं, जो घर-मकान वाले हैं, जिनके हृदय में प्रेम है और जिनके माता-पिता वृद्ध हैं, यह कभी नहीं चाहते कि दूर देश में जाकर वे किसी से युद्ध करें। हम शान्ति-प्रिय मनुष्य हैं और लड़ाई से डरते हैं; हम उससे घृणा करते हैं।

"हम तो बाइबिल के स्वर्ण-नियम (Golden Rule) का पालन करना अच्छा समझेंगे।

"युद्ध सशस्त्र मनुष्यों के अस्तित्व का अवश्यम्भावी परिणाम है। जो देश एक बहुत बड़ी स्थायी सेना का पोषक है, उसे अभी अथवा

देर में, किसी-न-किसी समय युद्ध का सामना अवश्य करना पड़ेगा। जिस मनुष्य को अपनी घूंसेबाजी की दक्षता पर बड़ा गर्व है, वह किसी-न-किसी दिन उस मनुष्य के पास जायगा जो अपने-आपको उससे अच्छा समझता है, और उस समय वे अवश्य लड़ेंगे। जर्मनी और फ्रांस के पास युद्ध के लिए अभिलाषा के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है कि इन दोनों में कौन अच्छा है। वे कई बार लड़ चुके हैं, और उनमें फिर युद्ध होगा। बात यह नहीं है कि लोग लड़ना चाहते हैं, किन्तु उच्च श्रेणी के लोग पंखा झलकर आग पैदा कर देते हैं, लोगों में पहले आक्रमण का भय पैदा करते हैं, फिर उनमें क्रोध लाते हैं, और उन्हें इस बात का विश्वास कराते हैं कि उन्हें अपने घर की रक्षा के लिए अवश्य लड़ना चाहिए।

इस प्रकार जो लोग मसीह के आदेशानुसार कार्य करना चाहते हैं, जो उनकी शिक्षा का अनुकरण करना चाहते हैं, वे अपनी इच्छानुसार नहीं रह सकते। उनके ऊपर सरकारें टैक्स लगाती हैं, नाना प्रकार के अत्याचार करती हैं और उन्हें धोखा देती हैं।

"मसीह ने इस बात की शिक्षा दी है कि अपने शत्रु के साथ भी विनीत और नम्र बने रहो और सदैव क्षमाशील रहो, और किसी की हत्या न करो। बाइबिल लोगों को शपथ न खाने का उपदेश करती है; परन्तु उच्च श्रेणी के मनुष्य हमारे सामने बाइबिल की ही कसम खाते हैं, जिसमें उनका कोई विश्वास नहीं है।"

"प्रश्न यह है कि हम इन लोगों से अपना छुटकारा किस प्रकार करें जो कुछ भी काम नहीं करते, किन्तु जो बढ़िया-बढ़िया मखमली कपड़े पहनते हैं, जिनमें बड़े-बड़े कीमती बटन लगे रहते हैं, जो बहुत से मूल्यवान् आभूषण पहनते हैं और बड़े-बड़े कीमती साज व सामान रखते हैं; जो हमारे धन पर मौजें उड़ाते हैं, और जिनके लिए हम रात-दिन मर-मर कर अपने खून का पानी किया करते हैं?

"क्या हम उनसे लड़ें?"

"नहीं, रक्त-पात में हमारा कोई विश्वास नहीं; और इसके अलावा उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें और बन्दूकें और बहुत-सा धन है, और रण-क्षेत्र में हमारी अपेक्षा वे अधिक समय तक ठहर सकते हैं।"

"लेकिन उस फौज में कौन-से आदमी हैं जिन्हें वे हमारे ऊपर गोली चलाने का हुक्म देंगे?"

"वे तो हमारे पड़ोसी और भाई हैं, जिन्हें इस धोखे में डाल रखा है कि अपने शत्रुओं से अपने देश की रक्षा करके वे ईश्वर की सेवा कर रहे हैं; जबकि असलियत यह है कि इन ऊंचे वर्ग के लोगों को छोड़कर हमारे देश के अन्य कोई शत्रु ही नहीं हैं, जो इस बात का झूठा दावा करते हैं कि यदि हम उनकी आज्ञा मान लें और टैक्स देने को राजी हो जायं तो वे हमारे हितों की रक्षा करेंगे।"

"इस प्रकार वे हमारे धन को छीनकर हमारे सच्चे भाइयों और मित्रों को, हमें जेर और जलील करने के लिए भेज देते हैं। आप अपनी स्त्री के पास एक तार नहीं भेज सकते, न अपने मित्र के पास कोई खास बंडल या किताब भेज सकते हैं, और न अपने बनिये के लिए कोई चैक (हुण्डी) काट सकते हैं, जब तक कि आप सशस्त्र सैनिक रखने के लिए पहले टैक्स न दे दें, जो फौरन आपका ही गला काटने के काम में लाये जा सकते हैं। टैक्स न अदा करने पर तुम्हें वे फौरन कैद करके जेलखाने भेज देंगे।"

"इसका एक-मात्र उपाय शिक्षा है। लोगों को यह शिक्षा दीजिए कि किसी का वध करना बुरा है।" उन्हें बारम्बार यह स्वर्ण नियम (Golden Rule) की शिक्षा दीजिए। धीरे-धीरे खामोशी के साथ इनकी गोलियों की बौछार के सामने सिर झुकाने से इंकार करके इस उच्च श्रेणी के लोगों का विरोध कीजिए। ऐसे लोगों की सहायता करना बन्द कर दीजिए जो हमेशा युद्ध के लिए ही चिल्लाया करते हैं, और जो रुपया लेकर स्वदेश प्रेम के गीत गाया करते हैं। उन्हें भी उसी तरह मजूरी करने दीजिए जिस तरह हम करते हैं। हमारा मसीह में

विश्वास है—पर उनका नहीं है। मसीह ने वही कहा जो उसने उचित समझा; पर वे वही कहते हैं; जिससे वे समझते हैं, अधिकारी वर्ग—उच्च श्रेणी के लोग—प्रसन्न होंगे।

"हम सेना में भर्ती न होंगे। हम उनके हुक्म पर लोगों पर गोली न चलावेंगे। हम कोमल-स्वभाव और सज्जन पर कभी संगीनों का वार न करेंगे। अपने घर-बार और बाल-बच्चों के लिए लड़ते हुए बेचारे गरीब किसानों और चरवाहों के ऊपर गोली न चलावेंगे। तुम्हारे झूठे "भेड़िया,—भेड़िया" चिल्लाने से हम भयभीत न होंगे। हम आपको इसीलिए टैक्स देते हैं कि हमें देना पड़ता है और जब तक हमें देना पड़ेगा तभी तक हम उसे देते रहेंगे, आगे नहीं। हम जगह के लिए टैक्स न देंगे, और न आपके दान के लिए हम कोई चन्दा देंगे, और मौका पड़ने पर समय-समय पर हम जी खोलकर अपने भाव प्रकट करेंगे।

"हम लोगों को शिक्षित बनावेंगे।"

"और इस बीच में हमारा प्रभाव धीरे-धीरे लोगों पर पड़ता ही रहेगा और उन लोगों के भी, जो सेना में भर्ती हो गये हैं, दिल आधे रह जायंगे और वे लड़ने से इन्कार कर देंगे। हम लोगों को यह बतलावेंगे कि झगड़े, रक्त-पात और युद्ध के जीवन की अपेक्षा शान्तिमय और परोपकार-पूर्ण धार्मिक जीवन कहीं अच्छा है।"

"संसार में शान्ति तभी हो सकती है जब लोग इन सेनाओं को हटाकर अलग कर देंगे और दूसरे लोगों के साथ वही व्यवहार करने लग जायंगे जो वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें।"

इस प्रकार संयुक्त राज्य के नागरिक ने लिखा है; और हर तरफ से भिन्न-भिन्न रूप में ऐसी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं।"

जर्मनी के एक सैनिक ने यों लिखा है:—

"मैं प्रशियन गार्ड के साथ लड़ाइयों में (सन् १८६६ ई०, सन् १८७० ई०) गया; मुझे लड़ाई से हार्दिक घृणा है। क्योंकि इसने

मुझे ऐसा तबाह कर दिया है जिसका वर्णन नहीं हो सकता। हम घायल सिपाहियों को आम तौर पर इतना कम माविजा मिल रहा है कि हमें इस बात पर लज्जा आती है किम हममें भी एक समय स्वदेश-प्रेम था। उदाहरणार्थ, मुझे अपने दाहिने हाथ के लिए ६ पैंस प्रतिदिन मिलता है जिसमें सेण्ट प्रियट की चढ़ाई के समय तारीख १७ अगस्त सन् १८७० ई० को गोली लगी थी। कुछ शिकारी कुत्तों को उनकी रखवाली के लिए अधिक मिलता है। अपने घायल हाथ के लिए मुझे कई वर्ष तक कष्ट भोगना पड़ा। इससे सन् १८६६ई० में मैंने आस्ट्रिया के विरुद्ध होनेवाली लड़ाई में हिस्सा लिया और ट्राटिना तथा कानीग्रेज में लड़ाई के बहुत से खतरों का मुझे सामना करना पड़ा। सन् १८७० में जिस समय मैं रक्षित (Reserve) सेना, में था मुझे फिर बुलाया गया, और जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूं सेंट प्रियट की चढ़ाई में मैं जख्मी हो गया—मेरे दाहिने हाथ में दो बार गोली लगी। मुझे शराब-खाने में एक अच्छी जगह से अलग हो जाना पड़ा, और फिर उसे पाने में समर्थ न हो सका। उस समय से आज तक मेरे पैर फिर जमीन पर न लग सके। मेरा नशा फौरन उतर गया, और फिर इस घायल और निर्बल सिपाही के लिए सिवाय इसके और कुछ भी बाकी न रहा कि वह दानरूप में दिये गये मामूली वजीफे (वृत्ति) पर बसर करता रहे.........।

"एक ऐसे संसार में जिसमें लोग सिखाये हुए पशुओं की भांति इधर-उधर दौड़ते हैं, और लोगों के सामने इसके सिवा और कुछ भी विचार नहीं रहता कि धन के लोभ में एक-दूसरे को बर्बाद करते रहें—ऐसे संसार में लोग मुझे भले ही एक कमजोर आदमी समझें; परन्तु इस सबका परिणाम यह हुआ कि मुझे अपने आपमें उस ईश्वरीय शान्ति का अनुभव होने लगा है जिसका गिरि-प्रवचन में बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि लड़ाई (युद्ध) एक बड़े पैमाने पर किया जानेवाला व्यापार है—ऐसा व्यापार जिसे

बड़े-बड़े शक्तिशाली मनुष्य सर्वसाधारण के आराम और सुख की पूंजी से करते हैं।"

"और इससे हमको किन-किन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है ? मैं कभी उन पुर-दर्द आहों को नहीं भूल सकता जो मनुष्य के अन्तस्थल तक प्रवेश कर जाती थीं।"

"जिन लोगों ने कभी एक-दूसरे को कोई क्षति नहीं पहुंचाई है, वे एक-दूसरे को पशुओं की भांति कत्ल करने लग जाते हैं, और दासता में पड़ी हुई क्षुद्र आत्माएं ईश्वर को अपने इस कार्य में भागी बनाकर उसे कलंकित करने की चेष्टा करते हैं।"

"फौज में पड़ोसी का जबड़ा गोलियों के वार से टूट गया था। वह बेचारा दर्द के मारे पागल हो गया। वह इधर-उधर पागल की तरह मारा-मारा फिरता था, और उसे झुलसा देनेवाली ग्रीष्म ऋतु की गर्मी में अपना जख्म (घाव) ठंडा करने को पानी भी नहीं मिल सका। यह देख हमारे सेना-नायक युवराज ने (जो बाद में महाराज फ्रेडरिक के नाम प्रसिद्ध हुए) अपनी 'डायरी' (रोजनामचा) में लिख लिया—"युद्ध धर्म का उपहास है।"

लोग अब स्वदेश-प्रेमके इस माया-जाल को समझने लगे हैं जिसमें उन्हें फंसाये रखने के लिए सभी सरकारें इतना कष्ट उठाती रहती हैं।

(८)

अक्सर लोग पूछते हैं—"परन्तु, सरकारों के स्थान में और कौन-सी संस्था होगी ?"

इसके स्थान में और कुछ भी होगा। जो वस्तु बहुत समय से अनुपयोगी और इस कारण व्यर्थ और एक बुरी वस्तु सिद्ध हो गई है, उसे नष्ट ही कर देना चाहिए। जो संस्था आवश्यकता होने के कारण हानिकर हो गई हो उसका अन्त अवश्य हो जाना चाहिए।

लोग प्रायः यह कहा करते हैं—"लेकिन अगर सरकार न होगी, तो लोग कानून को न मानेंगे और एक दूसरे को मार डालेंगे।"

क्यों ? ऐसी संस्था के नष्ट कर दिये जाने से लोग क्यों अत्याचार करने लगेंगे, जो बल-प्रयोग के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई है और जिससे हमेशा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों को बल-प्रयोग (हिंसा) करने की शिक्षा दी है—जिसकी उपयोगिता नष्ट हो गई है, पशु-बल से काम लेनेवाली सरकारों के नष्ट होते ही लोग क्यों एक-दूसरे का वध करने लगेंगे ? बल्कि वास्तव में होना चाहिए इसके विपरीत—बल-प्रयोग (हिंसा) का साधन नष्ट हो जाने से लोगों को एक-दूसरे पर अत्याचार करना और उनका वध करना छोड़ देना चाहिए।

कुछ लोगों को दूसरे लोगों पर बल-प्रयोग करने और उनका वध करने के लिए विशेष रूप से शिक्षा और दीक्षा दी गई है—कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि उन्हें दूसरों पर बल-प्रयोग करने का अधिकार है, और जो उस संस्था को काम में लाते हैं जिसकी उत्पत्ति भी इसी काम के लिए हुई है। बल-प्रयोग के ऐसे कार्य तथा लोगों का इसी प्रकार वध किया जाना बड़े ही अच्छे और प्रशंसनीय कार्य समझे जाते हैं।

परन्तु अब आगे लोगों को ऐसी शिक्षा न दी जायगी, और किसी को भी दूसरों पर बल-प्रयोग तथा अत्याचार करने का कोई अधिकार न होगा; बल-प्रयोग करनेवाली कोई संस्था न होगी, और जैसा कि हमारे इस समय के लोगों के लिए स्वाभाविक है, बल-प्रयोग और मनुष्य-हत्या हमेशा बुरे काम समझे जायंगे, फिर उनका करनेवाला कोई भी हो।

लेकिन अगर सरकारों का अन्त हो जाने के बाद हिंसा (बल-प्रयोग) के कार्य जारी रहे भी तो भी इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे कार्य उस समय इस समय की अपेक्षा कहीं कम होंगे। क्योंकि अभी तो एक ऐसी संस्था ही विद्यमान है जो विशेष रूप से लोगों के ऊपर अत्याचार और बल-प्रयोग करने के लिए बनाई गई है, और ऐसी स्थिति बनी

हुई है जिसमें हिंसा और हत्या के कार्य उत्तम और उपयोगी समझे जाते हैं।

सरकारों का अन्त हो जाने से हमें एक अनावश्यक संस्था से छुटकारा मिल जायगा जो बल-प्रयोग करने और अपने इस कार्य का समर्थन करने के लिए हमें परम्परा से प्राप्त हुई है।

"परन्तु उस समय न कोई कानून रह जायंगे और न कोई सम्पत्ति होगी, न न्यायालय होंगे और न पुलिस होगी। सर्व-साधारण की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध न होगा,—"यह बात उन लोगों की ओर से कही जाती है जो जान-बूझ कर सरकार की ओर से किये जाने वाले बल-प्रयोग को अन्य बहुत से सामाजिक कामों के साथ मिला देते हैं।

लोगों पर अत्याचार और बल-प्रयोग करने वाले राजकीय संगठन (संस्था) के नाश करने के मानी यह नहीं है कि उनके साथ-साथ वे सभी बातें भी चली जायंगी, जो अच्छी हैं। कानून, न्यायालय, सम्पत्ति, पुलिस, साम्पत्तिक व्यवस्था, तथा, सार्वजनिक शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली वे सारी बातें रहेंगी जिसका आधार पशु-बल नहीं है। तब तो सरकार के पाशविक बल के स्थान पर जिनकी आवश्यकता केवल उस सरकार की सहायता करने के लिए ही होती थी, एक अधिक न्यायानुकूल और उचित सामाजिक संगठन का जन्म हो जायगा जिसमें बल-प्रयोग की बिलकुल आवश्यकता न रहेगी। न्यायालय, सार्वजनिक काम-काज, सार्वजनिक शिक्षा आदि सब उसी हद तक रहेंगे जबतक वास्तव में लोगों को उनकी आवश्यकता है; किन्तु इन सबका रूप बदल जायगा। वह रूप ऐसा होगा जिसमें वर्तमान समय की सरकारों की बुराइयां न होंगी। अन्त केवल उन्हीं बातों का होगा जो बुरी और लोगों को अपने विचारों को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करने से रोकती हैं।

परन्तु यदि हम यह बात भी मान लें कि सरकारों के न होने पर

तमाम गड़बड़ी फैल जायगी और गृह-कलह उत्पन्न हो जायंगे, तो लोगों की दशा उस समय हमारी वर्तमान अवस्था से कहीं अधिक अच्छी हो जायगी। इस समय की स्थिति तो ऐसी है कि इस बात का अनुमान करना भी कठिन है कि इससे खराब कोई स्थिति हो सकती है अथवा नहीं। लोग बिलकुल तबाह हो गये हैं और उनकी तबाही दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। सभी लोग लड़ाई लड़नेवाले गुलाम बना दिये गये हैं और प्रतिदिन वे इसी प्रतीक्षा में रहते हैं कि किस वक्त लड़ाई पर जाने और वहां पर मरने और मारने का हुक्म मिल जाय। सर्वनाश में और क्या बाकी रहा? क्या अब उनके भूखों मरने की कसर है? सो तो रूस, इटली और भारतवर्ष में आरम्भ भी हो गई है। अथवा क्या स्त्री और पुरुष सभी सैनिक बन जायं? ट्रांसवाल में यह बात भी शुरू हो गई है।[1]

अतएव यदि सरकार के न होने का अर्थ वास्तव में अराजकता है—जो इसका अर्थ कदापि नहीं है—तो उस दशा में भी यह अराजकता की गड़बड़ी उस स्थिति से अधिक भयंकर नहीं होगी, जिसमें सरकारों ने लोगों को पहुंचा दिया है और अभी पहुंचा रही हैं।

इसलिए स्वदेश-प्रेम से छुटकारा पा जाने और सरकारों को स्वेच्छाचारिता तथा अत्याचारों का नाश हो जाने से जिसका आधार यह स्वदेश-प्रेम ही है, लोगों का उपकार ही होगा।

(६)

मनुष्यो, अब होश में आओ, और अपनी शारीरिक तथा आध्यात्मिक भलाई की खातिर, अपने भाइयों तथा बहनों की खातिर जरा ठहरो, विचारो और सोचो कि तुम क्या कर रहे हो! जरा सोचोगे तो

---

[1]विगत महायुद्ध से संसार की जो हानि हुई उसे देखने के लिए टाल्स्टाय जीवित नहीं रहे, नहीं तो उनके कोमल अन्तःकरण को कितनी चोट पहुंचती?—सम्पादक

समझ जाओगे कि तुम्हारे शत्रु बोअर, अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मनी, एवं फिनलैण्ड के निवासी, अथवा रूस के लोग नहीं हैं किन्तु तुम्हारे शत्रु तुम्हारे एक-मात्र शत्रु—तुम स्वयं हो जो अपने स्वदेश-प्रेम अथवा स्वदेशानुराग के प्रवाह में प्रवाहित होकर उन सरकारों की रक्षा और सहायता करते हो जो तुम्हारे ऊपर भांति-भांति के अत्याचार करती हैं और तुम्हारे दुःखों का कारण होती हैं।

उन्होंने हर तरह के खतरे से तुम्हारी रक्षा करने का बीड़ा उठाया है, और उन्होंने इस रक्षा के काम को ऐसा बढ़ा दिया है कि तुम सब सैनिक बन गये हो, गुलाम बन गये हो, सब लोग तबाह हो गये हैं, अथवा दिन-पर-दिन अधिकाधिक तबाह होते जाते हैं, इसका फल किसी दिन यह होगा कि तुम और तुम्हारे बच्चे सब-के-सब बेरहमी के साथ कत्ल कर दिये जाओगे।

लोग चाहे जितनी संख्या में कत्ल किये जायं और इस लड़ाई का परिणाम चाहे जो कुछ भी हो, स्थिति में कोई भी परिवर्तन न होगा। वह ज्यों-की-त्यों ही बनी रहेगी। उसी प्रकार, और बल्कि उससे भी मजबूती और ज्यादती के साथ सरकारें शस्त्र-संग्रह करेंगी, तुम्हें तबाह करेंगी और तुम्हें तथा तुम्हारे बच्चों को पथ-भ्रष्ट और सत्यानाश करेंगी, और इसके बन्द करने अथवा रोकने में तुम्हारी कोई भी सहायता न करेगा, यदि तुम स्वयं अपनी सहायता न करोगे।

और केवल एक ही प्रकार की सहायता सम्भव भी हो सकती है—यह कि बल-प्रयोग के उस क्रम को नष्ट कर दिया जाय जिससे किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के लिए शेष जन-समाज के ऊपर अधिकार प्राप्त करना तथा उस अधिकार को बनाये रखना सम्भव होता है; और जितना ही अधिक ये लोग इन अधिकारों को दृढ़ता के साथ प्राप्त कर पाते हैं; उतनी ही अधिक उनमें निर्दयता और अमानुषिक वृत्तियों की वृद्धि होती जाती है, जैसा कि नेपोलियन, निकोलस (१) विस्मार्क, चेम्बरलेन, रोड्स तथा हमारे रूसी डिक्टेटरों के उदाहरणों से प्रकट होता

है, जो 'जार' के नाम से शासन करते हैं।

इस एक—दूसरे के साथ में बांधे जाने की प्रथा (गुलामी) के नष्ट करने का केवल एक ही उपाय है—वह यह कि इस स्वदेश-प्रेम (Patriotism) के भूत को सर पर से उतार फेंका जाय।

इस बात को खूब समझ लो कि जिन बुराइयों के कारण तुम सब लोग कष्ट उठा रहे हो, उन्हें तुम ऐसी बातों के भुलावे में पड़कर स्वयं पैदा कर रहे हो जिनसे शासक, पूंजीपति, धर्माधिकारी, लेखक, शिल्पकार तथा सभी ऐसे लोग जिनको तुम्हारी मेहनत और कमाई के ऊपर मौज उड़ाने के लिए स्वदेश-प्रेम के इस माया-जाल की आवश्यकता है, तुम्हें छला चाहते हैं!

तुम चाहे किसी देश के निवासी हो, इस बात को स्मरण रखो कि कृषि, कला, व्यापार, कारीगरी अथवा विज्ञान-सम्बन्धी तुम्हारे सभी मानवी स्वार्थ और आमोद-प्रमोद, किसी भी प्रकार, दूसरे मनुष्यों अथवा देशों के स्वार्थों के घातक न हों। यह भी याद रखो कि तुम—पारस्परिक सहयोग, सेवाओं के परिवर्तन, विश्व-बन्धुत्व के नाते, तथा केवल वस्तुओं के ही नहीं वरन् विचारों एवं भावों के विनिमय के द्वारा दूसरे लोगों के साथ मिले हुए हो।

यह समझ लो कि इस प्रश्न से तुम पर कोई असर नहीं पड़ता कि वो हाईवी, पोर्टआर्थर अथवा क्यूबा के छीन लेने का प्रबन्ध किसकी ओर से किया जाता है—तुम्हारी सरकार की ओर से अथवा अन्य किसी की ओर से। यह भी समझ लो कि तुम्हारी सरकार यदि किसी के प्रदेश को छीनेगी तो तुम्हें उस डकैती और बल-प्रयोग (हिंसा) के कामों में हिस्सा लेने के लिए मजबूर किया जायगा। अथवा प्रदेश छीनने पर उसकी रक्षा करने के लिए मजबूर किया जायगा। यह समझ लो कि अल्सेस के जर्मनी अथवा फ्रांस के कब्जे में आने से, अथवा आयर्लैण्ड या पोलैण्ड के स्वतंत्र होने या गुलाम ही बने रहने से तुम्हारी जिन्दगी में कोई बेहतरी न आवेगी। उन पर चाहे किसी का अधिकार रहे, तुम

जहां चाहो स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हो; चाहे तुम अलसेस के रहने वाले हो या आयलैंण्ड अथवा पोलैण्ड के। पर इतना समझे रहो कि स्वदेश-प्रेम की आग भड़काकर तुम अपनी हालत को और भी खराब कर दोगे; क्योंकि जिस गुलामी में तुम जकड़े हुए हो वह भिन्न-भिन्न देशों अथवा राष्ट्रों के स्वदेशानुराग का ही फल है, और जब कि एक राष्ट्र अपने स्वदेश-प्रेम का प्रदर्शन करता है, तो इसका प्रतिबिम्ब दूसरे के ऊपर पड़े बिना रह नहीं सकता, दूसरे राष्ट्र भी उनका अनुकरण करने लग जाते हैं। दुःखों से तुम्हारा छुटकारा तभी हो सकता है जब तुम स्वदेश-प्रेम का खयाल ही छोड़ दो और सरकारों की आज्ञा का पालन करना बन्द कर दो, जिसका आधार भी स्वदेश-प्रेम ही है। दुःखों से छुटकारा तब होगा, जब तुम साहस के साथ विश्व-बन्धुत्व के उच्च भाव के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाओगे, जो बहुत समय से हमारे जीवन का आदर्श बना हुआ है और चारों ओर से तुम्हें अपनी ओर आने के लिए संकेत कर रहा है।

यदि लोग केवल इतना ही समझ लें कि वे किसी एक देश, मातृ-भूमि या सरकार की सन्तान वा प्रजा नहीं हैं, किन्तु एक-मात्र परम-पिता परमेश्वर की संतान हैं, और इसीलिए एक दूसरे के न गुलाम बनेंगे और न शत्रु ही होंगे तो वे सरकार नामधारी मूर्खतापूर्ण, अना-वश्यक, जर्जरीभूत और घातक संस्थाएं तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले समस्त दुःख और कष्ट, वे अत्याचार, वे जिल्लतें और वे अपराध आप-से-आप नष्ट हो जायंगे।

: २ :

साम्यवाद—राजकीय तथा धार्मिक

विलासिता का त्याग कर देना चाहिए। जबतक धन, बल और आविष्कारों का प्रयोग अनावश्यक बातों की ओर ही किया जाता रहेगा, तबतक कुछ भी नहीं हो सकता। और इस बात को जानने के लिए सर्व-साधारण को किन बातों की आवश्यकता है, प्रत्येक वस्तु की खूब अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए।

मुख्य बात यह है कि हमें उन क्रूर विषमताओं को उत्तेजना देने की अपेक्षा जो हमारे दुःखों का कारण हो रही हैं, उन तमाम वस्तुओं (बातों) को छोड़ देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए जो हमारी सभ्यता का पुरस्कार समझी जाती हैं। यदि मैं वास्तव में अपने भाई से प्रेम करता हूं, तो जिस समय वह बे-घर-बार हो जाय उस समय उसे आश्रम देने के लिए मुझे अपनी बैठक का एक कमरा खाली कर देने में कोई भी संकोच न होना चाहिए। परन्तु जैसा कि देखने में आता है, हम यह कह दिया करते हैं कि हम अपने भाई को पनाह देना तो चाहते हैं, लेकिन सिर्फ इस शर्त पर कि जब हमारे मित्र लोग आवें तो उनके स्वागत-सत्कार के लिए हमारे कमरे हर वक्त खाली रहें। हमें यह बात निश्चय कर लेनी चाहिए कि हम किसकी उपासना करें—ईश्वर की अथवा शैतान की। दोनों की उपासना करना असम्भव है। यदि हमें ईश्वर की उपासना करनी है, तो हमें विलासिता और इस सभ्यता का भी परित्याग करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और

इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर उनको फिर अपना लेंगे, लेकिन सर्व-साधारण के सम्मिलित और समान रूप से काम लाने के लिए ही।

सबसे अधिक लाभकारी सामाजिक व्यवस्था (आर्थिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार की) वह है जिसमें प्रत्येक मनुष्य सब लोगों की भलाई का ध्यान रखता है और बिना किसी अपवाद के उसी भलाई में अपनी शक्ति लगा देता है। यदि हर एक आदमी की तबियत का झुकाव इस ओर हो जाय, तो प्रत्येक मनुष्य को अधिक-से-अधिक लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

सबसे अधिक हानिकर संगठन (आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार का) वह है जिसमें मनुष्य केवल अपने ही लिए काम करता है, केवल अपने ही ऊपर निर्भर रहता है और अपने ही लिए चीजों की व्यवस्था करता है। यदि सब लोग ऐसा ही करने लग जायं और यदि कौटुम्बिक संघ भी न हो कि जिनमें लोग दूसरे के लिए काम करते हैं, तो मैं नहीं समझता कि लोग जीवित रह सकेंगे।

तथापि, लोगों में दूसरों की भलाई की यह उत्कट अभिलाषा नहीं है। इसके प्रतिकूल, हर एक आदमी दूसरों को नुकसान पहुंचाकर भी अपनी भलाई के लिए प्रयत्न करता रहता है। परन्तु यह व्यवस्था इतनी हानिकर है कि लोग इस संग्राम में बहुत शीघ्र निर्बल पड़ जाते हैं। और तब स्वभावतः एक मनुष्य दूसरों पर अपना अधिकार जमा लेता है और उन्हें इस बात के लिए विवश करता है कि वे उसकी सेवा करें। इसका परिणाम यह होता है कि अहितकर व्यक्तिगत परिश्रम के बदले जिससे कोई फायदा नहीं होता सब मनुष्य अधिक लाभप्रद काम करने लग जाते हैं।

परन्तु लोगों के इस प्रकार के संघटनों में विषमता और अत्याचार ही दिखलाई पड़ते हैं। और इसलिए लोग समानता स्थापित करने (जैसे सहयोग-समितियां और साम्यवादी सभाओं आदि की स्थापना

करना इत्यादि) और मनुष्यों को स्वतन्त्रता (जैसे राजनीतिक अधिकार आदि) दिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं । समानता स्थापित करने का परिणाम हमेशा यह होता है। परिश्रम करनेवालों को हानि पहुंचती है। परिश्रम के फल का समान विभाग करने के लिए अच्छा-से-अच्छा काम करने वाला श्रमजीवी खराब-से-खराब श्रमजीवी के बराबर कर दिया जाता है। इस्तैमाल की चीजें इस प्रकार विभाजित की जाती हैं कि किसी भी मनुष्य को दूसरे से अधिक अथवा अच्छी चीजें न मिल सकें, जैसा कि जमीन के बंटवारे में किया जाता है; और यही कारण है कि जमीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटती जा रही है, जिससे सर्व-साधारण को हानि पहुंच रही है। राजनीतिक अधिकारों के द्वारा अत्याचारों से मुक्ति पाने के प्रयत्न से लोगों में और अधिक जोश और द्वेष-भाव फैलता है। इस प्रकार लोगों में समानता स्थापित करने और अत्याचारों से लोगों की मुक्ति करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, यद्यपि उनमें अभी तक कोई भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है। किन्तु एक-तन्त्र-वाद (किसी एक मनुष्य का अधिक-से-अधिक मनुष्यों को अपनी अधीनता में बनाये रखने की प्रथा) दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। जितना ही अधिक परिश्रम का केन्द्रीकरण (Centralization) होता जायगा उतना ही अधिक लाभ होगा, परन्तु असमानता भी उतनी ही अधिक दृढ़ता और भयंकरता धारण करती जाती है ।

तो फिर ऐसी दशा में क्या होना चाहिए ? व्यक्तिगत परिश्रम से कोई लाभ नहीं; सामूहिक परिश्रम अधिक लाभप्रद है, परन्तु असमानता और अत्याचार बड़ी ही भयंकर वस्तु है।

साम्यवादी लोग संसार की सारी संपत्ति (पूंजी) को समस्त राष्ट्र अर्थात् मानव-समाज की संपत्ति बनाकर इस असमानता और अत्याचार को मिटाना चाहते हैं, जिससे केन्द्रीभूत श्रमजीवी समाज स्वयं मानव-समाज बन जायगा। परन्तु पहले तो केवल मनुष्य-समाज ही नहीं किंतु

संसार के सारे राष्ट्र भी अभी इसकी आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते और जबतक वे इसे स्वीकार न करेंगे तबतक इस प्रथा को सारा मनुष्य-समाज स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरे उन लोगों में, जिनमें प्रत्येक मनुष्य केवल अपने ही व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयत्न करता रहता है, ऐसे मनुष्यों का मिलना असंभव होगा जो अपनी शक्ति का अनुचित लाभ उठाये बिना निःस्वार्थ भाव से मनुष्य-समाज की संपत्ति का उचित प्रबन्ध कर सकें—ऐसे लोग, जो फिर से संसार में असमानता और अत्याचार के जन्म-दाता न बन जायं।

इसलिए मानव-समाज के सामने एक त्रिकट समस्या उपस्थित हो जाती है—यह कि या तो परिश्रम के केन्द्रीकरण से आविर्भूत इस अप्रगति का वह परित्याग कर दे—समानता का भंग करने अथवा अत्याचारों को होने देने की अपेक्षा पीछे हट जाय—या साहस के साथ यह बात स्वीकार कर ले कि असमानता और अत्याचार अवश्य रहेंगे। जब लकड़ी काटी जायगी तो इधर-उधर खपाचें जरूर फैलेंगी, ऐसे लोग तो हमेशा रहेंगे जो दूसरों का शिकार बने रहें, और आपस में लड़ते-झगड़ते रहना तो मानव-समाज का धर्म है। इस विचार को थोड़े-से लोग मानते भी हैं और उसका समर्थन भी करते हैं। परन्तु इसी के साथ-साथ, जिन लोगों की संपत्ति छीन ली गई है, जिनके ऊपर अत्याचार किये गए हैं और जो लोग इस प्रथा के विरोधी और उससे द्वेष रखनेवाले हैं, वे और भी अधिक इसका विरोध करते रहेंगे, चीखते और चिल्लाते रहेंगे और ईसा-मसीह, सत्य एवं धर्म के नाम पर उस आदर्श की नफरत के नारे बुलंद करते रहेंगे, जिसको कि हमारे समाज ने हाकिमाना ढंग पर स्वीकार किया है।

परन्तु यह बात एक बच्चे की भी समझ में आ सकती है कि यदि हर एक आदमी ऐसे काम करने लग जाय जो सर्व-साधारण के लिए हितकारी है, और इसलिए उसके भोजन-वस्त्रादि की भी उसी प्रकार व्यवस्था की जाय मानो वह इतने बड़े कुटुम्ब का एक व्यक्ति हो अर्थात्

उसे भी अन्य लोगों की तरह भोजन और वस्त्रादि दिये जायं, तो इससे सब लोगों को अधिक-से-अधिक लाभ पहुंच सकता है। लेकिन चूंकि समाज के अन्दर ऐसा रिवाज नहीं है, चूंकि मनुष्य की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसका अपने वश में करना असम्भव है, और चूंकि हर एक आदमी को इसके लिए राजी करना भी असंभव है अथवा इसमें बहुत समय लगेगा, इसलिए केवल एक मार्ग शेष रह जाता है। यह कि अधिकांश लोगों का थोड़े से मनुष्यों की अधीनता में रखे जाने के परिणाम-स्वरूप परिश्रम के केन्द्रीकरण में सहायता की जाय, और इसी के साथ-साथ जिन लोगों की संपत्ति हरण कर ली गई है उनसे उस असमानता को छिपाया जाय, जो उनमें और धन-धान्य-संपन्न मनुष्यों में है, उनके हमलों को बचाया जाय और पीड़ितों की सहायता की जाय तथा उन्हें दान दिया जाय। यह बात हो रही है; परन्तु पूंजीवाद दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता है, और असमानता एवं अत्याचारों की भयंकरता भी बढ़ती ही जाती है। इसी के साथ-साथ लोगों में जागृति भी बड़ी तेजी के साथ होती जा रही है और इस असमानता तथा अत्याचारों की निष्ठुरता अथवा क्रूरता की बात लोगों पर (पीड़ितों और पीड़कों दोनों पर) अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है।

इस सम्बन्ध में आगे कोई और उन्नति अथवा सुधार करना असंभव है। इसलिए जो लोग सोचते कम हैं, जो किसी बात के तर्कयुक्त परिणाम को नहीं देखते, वे इसके लिए कल्पित उपाय बताया करते हैं। वे कहते हैं—लोगों में इस शिक्षा का प्रचार किया जाय कि अधिकाधिक लाभ के लिए लोगों का परस्पर मिल-जुलकर रहना आवश्यक है। पर यह बात तो बिलकुल वाहियात है। यदि लोगों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक लाभ की प्राप्ति करना है, तो इस राजकीय संगठन में मनुष्य अपने लिए इस लाभ और सुविधा की प्राप्ति अवश्य करेंगे। इसलिए ऐसे प्रयत्नों का परिणाम सिवा बातों के और कुछ भी नहीं होता।

समाज का ऐसा संगठन, जिससे सर्व-साधारण को लाभ पहुंच

सकता है, उस समय तक नहीं हो सकता जबतक कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य लाभ अथवा पार्थिव कल्याण रहेगा; सर्वसाधारण के लिए लाभकारी संगठन तो तभी हो सकता है जब समस्त मनुष्य-समाज का लक्ष्य वह कल्याण हो जिसका इस सांसारिक सुख-समृद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है—जब प्रत्येक मनुष्य अपने हृदय से यह कहने लग जायगा—"निर्धनों का ही जीवन सुख-मय और धन्य है; वे लोग सच्चे सुखी और भाग्यवान हैं जो रोते हैं, जो सताये जाते हैं।" केवल उसी समय जब प्रत्येक मनुष्य पार्थिव (भौतिक) कल्याण का नहीं वरन् आध्यात्मिक कल्याण (सुख) का अन्वेषक होगा जो एक-मात्र त्याग से ही प्राप्त हो सकता है और जिसे सत्य प्रमाणित करने का साधन भी त्याग ही है—केवल उसी समय सारे मनुष्य-समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकता है।

एक इसी साधारण उदाहरण को लीजिए। लोग साथ-साथ रहते हैं। यदि वे लोग बराबर सफाई बनाये रहें, अपने इर्द-गिर्द सफाई रखें और अपनी तमाम चीजों को साफ-सुथरा रखें, तो सार्वजनिक सफाई के लिए प्रत्येक मनुष्य को बहुत थोड़ा परिश्रम करना पड़ेगा। परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनी चीजों और अपनी जगह की सफाई बनाये रखने का आदी बना रहता है; तो फिर जो मनुष्य सारी जगह साफ रखना चाहता है, उसे क्या करना चाहिए? उसे सब लोगों के लिए काम करना पड़ेगा, गर्द-गुबार से अपना शरीर मैला करना पड़ेगा। यदि वह ऐसा न करेगा, केवल अपने ही लिए काम करेगा, तो उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति न हो सकेगी। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरों को हुक्म देना आसान है; परन्तु कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो इस प्रकार लोगों को हुक्म दे सके। इसलिए केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है—प्रत्येक मनुष्य का दूसरों के लिए काम करना!

वास्तव में एक ऐसे संसार के अन्दर, जहां सब लोग स्वार्थमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, दूसरों के लिए जीवित रहने लगना किञ्चित

असम्भव है मनुष्य को तो पूरे तौर पर आत्म-विस्मरण कर देना होगा। यही बात है जिसका महात्मा मसीह की उपदेश–चन्द्रिका से प्रकाशित हृदय अभिलाषी है।

× × ×

क्या कारण है कि इस पृथ्वीतल के ऊपर स्थापित ईश्वरी साम्राज्य न तो वर्तमान राजकीय बल-प्रयोग के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, न क्रान्ति अथवा राजकीय साम्यवाद के द्वारा और न उन उपायों द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है, जो ईसु-धर्मानुयायी साम्यवादियों की ओर से बतलाये गये हैं—अर्थात् प्रचार-कार्य तथा लोगों में क्रमशः इस भावना की वृद्धि कि सेवा-भाव से लाभ की प्राप्ति होगी?

जब तक मनुष्य का लक्ष्य अपने व्यक्तिगत जीवन की भलाई रहेगा, तब तक कोई भी मनुष्य अपना मुनासिब हिस्सा मिल जाने पर भी अपनी भलाई के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों से अपने-आपको रोक नहीं सकता—वह उस समय भी अपने-आपको नहीं रोक सकता जब लोगों की ओर से ऐसी मांगें पेश की गई हों जिनमें सर्व-साधारण की भलाई है। इसका कारण एक तो यह है कि इन मांगों में पूर्ण न्याय की बात का पाना असंभव है—लोग हमेशा अपनी मांगों को बढ़ाकर पेश किया करते हैं। दूसरे, यदि न्याय-पूर्ण मांग का पैमाना मिलना सम्भव भी हो, तो भी मनुष्य उन बातों की मांग पेश नहीं कर सकता जो केवल न्याय-पूर्ण हैं। क्योंकि यह कभी उन्हें पा न सकेगा वरन् हमेशा उनसे कम ही पावेगा। चूंकि उसके इर्द-गिर्द रहनेवाले मनुष्यों की मांगों का नियंत्रण न्याय से नहीं वरन् व्यक्तिगत लाभ (जाती फायदा) से होता है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकताओं की प्राप्ति अपनी न्यायोचित मांग पेश करने की अपेक्षा प्रतिस्पर्धा एवं अपने व्यक्तिगत उद्योग से ही हो सकती है (जैसा कि आजकल हो रहा है)।

जबतक लोग अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए ही प्रयत्न करते

रहेंगे तबतक न्याय की प्राप्ति के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो सांसारिक वस्तुओं को उचित परिणाम निश्चित कर सकने में समर्थ हों, जो न्यायानुसार प्रत्येक मनुष्य के हिस्से में पड़नी चाहिए। ऐसे लोगों की भी आवश्यकता है जिनके हाथ में शक्ति हो, और वे उन आदमियों को रोक सकें जो अपने मुनासिब हिस्से से ज्यादा का उपभोग कर रहे हैं। ऐसे आदमी हैं और हमेशा से रहे हैं जिन्होंने इन दोनों बातों का बीड़ा उठा लिया है। वे हमारे शासक लोग हैं। परन्तु इस समय तक एक-तंत्र अथवा प्रजा-तंत्र राज्यों में ऐसे लोग नहीं पाये जाते जिन्होंने सांसारिक वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करने में तथा लोगों में उनका उचित वितरण करने में अपने अधिकार का अनुचित प्रयोग करके एवं अपने तथा अपने सहायकों के हित के लिए इस मर्यादा का उल्लंघन करके उस काम का सत्यानाश न कर दिया हो जो उनके सुपुर्द किया गया था और जिसके करने का उन्होंने बीड़ा उठाया था। इसलिए इस उपाय को तो सब लोगों ने असंतोषजनक स्वीकार कर लिया है। अब कुछ लोगों का कहना है कि इन सरकारों का अन्त करके उनके स्थानों पर दूसरे प्रकार की सरकारें स्थापित करना आवश्यक है। इन नई सरकारों का मुख्य काम है हमारे आर्थिक मामलों का निरीक्षण करना। वे इस बात को स्वीकार करें कि संसार की सारी सम्पत्ति (पूंजी) और जमीन जनता की सम्मिलित सम्पत्ति है। वे लोगों के परिश्रम की व्यवस्था करें और उनके परिश्रम के अनुसार—(अथवा, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है, उनकी आवश्यकतानुसार) लोगों में सांसारिक सुख-समृद्धि की वस्तुओं का वितरण करें।

इस प्रकार के संगठन के लिए अबतक जितने प्रयत्न किये गए हैं. वे सब निष्फल रहे। परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों के बिना भी यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि जो लोग अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं, उनसे ऐसे संगठन के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वे लोग—उनमें से अधिकतर लोग

जो अर्थ-सम्बन्धी मामलों की देख-रेख करेंगे, ऐसे ही आदमी होंगे, जो अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए ही व्यग्र रहते हैं और उसीके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें काम भी ऐसे ही आदमियों से रहेगा, जो उनके समान होंगे। इसलिए नवीन आर्थिक व्यवस्था का संगठन करने और उसे कायम रखने में वे अवश्यमेव उसी प्रकार अपने स्वार्थ की सिद्धि करेंगे जिस प्रकार उनसे पहले वाले प्रबन्धक और शासक लोग करते थे, और इस प्रकार जो काम उनके सुपुर्द किया गया था, उसके मतलब को भी खत्म कर देंगे।

कुछ लोग कहेंगे—"इसके लिए ऐसे आदमियों को ढूंढो जो बुद्धिमान् और शुद्ध अन्तःकरण के हों।" परन्तु सिवाय बुद्धिमान् एवं शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्यों के अन्य कोई भी मनुष्य बुद्धिमान् और शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्यों को ढूंढ सकता और यदि सभी मनुष्य बुद्धिमान् और पवित्र होते तो किसी संगठन की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, इसलिए क्रान्तिकारी साम्यवादियों की ओर से जो कुछ भी कहा जाता है वह अव्यवहार्य्य और असम्भव है। यह बात सब लोगों की और स्वयं उनकी भी समझ में आ जाती है। यही कारण है कि यह बात अब बहुत पुरानी हो गई है और उसमें अबतक न कोई सफलता प्राप्त हुई है और न उसके प्राप्त होने की कोई आशा रह गई है।

अब हम, तीसरे, ईसाई साम्यवादियों के उपदेश को लेते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि लोगों के अन्तःकरण पर प्रभाव डालने वाली बातों का प्रचार किया जाय। लेकिन जैसा कि बिलकुल स्पष्ट है इस उपदेश के अनुसार कार्य करने से तभी सफलता मिल सकती है, जब सब साफ तौर से हिल-मिलकर परिश्रम करने के लाभ को समझ लेंगे, और जिस समय यह जागृति सब लोगों में समान रूप से फैल जायगी। लेकिन चूंकि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी बात नहीं हो सकती, इसलिए वह आर्थिक संगठन सफल नहीं हो सकता जिसका निर्माण प्रतिस्पर्धा एवं जीवन-संघर्ष के ऊपर नहीं वर सार्व-न्

अनिक हित की दृष्टि से किया गया हो।

इसलिए जबतक मनुष्य का लक्ष्य स्वार्थ (अपनी व्यक्तिगत भलाई) रहेगा, तबतक वर्तमान संगठन से अच्छा कोई भी संगठन नहीं हो सकता।

ईसाई-साम्यवाद का उपदेश करने वाले यह गलती करते हैं कि वे अपने धर्म-ग्रन्थ से सार्वजनिक भलाई सम्बन्धी वही नतीजा निकालते हैं जो वास्तव में इंजील का लक्ष्य नहीं है, बल्कि इसके प्राप्त करने के साधनों के सही होने की सिर्फ एक तस्दीक ही है। इंजील (बाइबिल) में यह बतलाया गया है कि जीवन का मार्ग क्या है और होता यह है कि इसी मार्ग के ऊपर चलने से मनुष्य को अनायास ऐहिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति भी हो जाती है। प्राप्ति जरूर हो जाती है, परन्तु बाइबिल का लक्ष्य केवल यह नहीं है। यदि इंजील की शिक्षा का उद्देश्य केवल ऐहिक सुख-समृद्धि ही होता तो इसकी प्राप्ति न हो सकती।

उसका लक्ष्य इससे कहीं बड़ा और ऊंचे दर्जे का है। इस शिक्षा का लक्ष्य पार्थिव सुख-समृद्धि नहीं किन्तु आत्मा, अर्थात् शरीरस्थ ईश्वरी तत्त्व का मोक्ष है। इस मोक्ष की प्राप्ति स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन का, और इसलिए सांसारिक सुख-समृद्धि का भी त्याग करके और अपने पड़ोसियों के सुख-समृद्धि तथा भलाई के लिए प्रयत्न करने—उनके साथ प्रेम करने से ही हो सकती है। और केवल इसी प्रकार के उद्योग से मनुष्यों को सबसे बड़े और उत्तम सुख—पृथ्वी-तल पर ईश्वर के साम्राज्य की—प्राप्ति हो सकती है।

अपने व्यक्तिगत सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न करते रहने से न तो व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति हो सकती है और न सार्वजनिक सुख की। आत्म-विस्मरण कर देने (अपने-आपको भुला देने) और अपनी समस्त स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का त्याग कर देने से ही व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के सुख-समृद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

सिद्धान्त-रूप में, मानव-समाज का संगठन तीन प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो यह कि संसार के सर्वोत्कृष्ट मनुष्य लोगों के लिए ऐसे कानून की व्यवस्था करें जिससे मनुष्य-समाज का अधिकाधिक कल्याण होने की सम्भावना हो और अधिकारी लोग इस कानून का पालन करने के लिए सब लोगों को मजबूर करें। इसकी परीक्षा हो चुकी है; परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकारियों ने, उन लोगों ने जिनके हाथ में इस कानून के पालन करने का काम दिया गया था, अपने अधिकार का दुरुपयोग किया और इस कानून को तोड़ा। केवल उन्होंने ही नहीं वरन् उनके सहायकों और सहकारियों तक ने, जो अच्छी तादाद में हैं, उसका मनमाना दुरुपयोग किया। इसके बाद एक दूसरी योजना सामने आई—जिसका भाव यह है कि अधिकारियों की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत भलाई को ही लक्ष्य मानकर कार्य करे तो न्यायानुसार कार्य हो सकता है। परन्तु इसे भी सफलता नहीं मिलती। इसके कारण दो हैं; एक तो यह कि सत्ता का अन्त नहीं हुआ, और दूसरे यह कि लोगों का खयाल है कि इसका अन्त किया भी नहीं जा सकता, क्योंकि अत्याचार बराबर होते ही रहेंगे। इसका कारण यह है कि सरकार डाकुओं को पकड़ने में अपने अधिकार का प्रयोग करने से इन्कार कर देगी और डाकू लोग भी अपने काम से बाज न आवेंगे। जबतक अधिकारी बने रहेंगे तबतक सुख-समृद्धि के लिए संग्राम करने वाले मनुष्यों की दशा में असमानता बनी ही रहेगी। केवल इसलिए नहीं कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं, किन्तु इसलिए भी कि लोग इस संग्राम में अधिकारी वर्ग से सहायता लेते रहेंगे। दूसरे, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए किये जाने वाले इस निरन्तर संग्राम में किसी मनुष्य का थोड़ा-सा भी लाभ उसे कई गुना लाभ पहुंचा देता है और इसलिए असमानता को उत्पन्न हो जाना और उसका बढ़ जाना अनिवार्य हो जाता है। एक तीसरा विचार फिर भी शेष

रह जाता है; यह कि लोग यह समझ जायं कि दूसरों को भलाई के लिए जीवित रहना अत्यन्त लाभदायक है, और वे सब इसी के अनुसार कार्य करने में लग जायं। ईसाई-मजहब भी इसी बात की शिक्षा देता है। प्रथम तो इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करने में किसी प्रकार की कोई बाहरी रुकावट नहीं पड़ सकती। चाहे सरकार के पास पूंजी आदि और सम्पूर्ण वर्तमान संगठन हो अथवा न हो, लोगों के विचार में क्रांति हो जाने से इस उद्देश्य की सिद्धि अवश्य हो जायगी। दूसरे इस कार्य को आरम्भ करने के लिए किसी मनुष्य को किसी समय-विशेष की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्येक ऐसा मनुष्य, जिसके जीवन-सम्बन्धी विचारों में यह परिवर्तन हो गया है और जिसने अपना सारा जीवन दूसरों की भलाई के लिए ही अर्पण कर दिया है, आरम्भ से ही इन लोक-हित के कामों में सहायता करने लग जाता है। और तीसरे जिस समय से हमको मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम हुआ है उसी समय से यह बात होती चली आती है।

× × ×

साम्यवादियों का कहना है—"इस संस्कृति (Culture) और सभ्यता (Civilisation) की वस्तुओं का उपभोग करने वाले हम लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इनके उपभोग से वंचित कर दिये जायं और अपने जीवन को एक जन-साधारण के जीवन-जैसा बना लें! परन्तु जो लोग इस समय पार्थिव सुख के साधनों से वंचित कर दिये गए हैं, उन्हें उठाकर हमारे बराबर कर दिया जाय और इस संस्कृति एवं सभ्यता से प्राप्त होने वाले सुखोपभोग की सामग्री में उन्हें हिस्सेदार बना दिया जाय। इस काम को पूरा करने का साधन विज्ञान (Science) है। विज्ञान हमें इस बात की शिक्षा देता है कि हम प्रकृति को अपने वश में कैसे कर सकते हैं; इससे प्रकृति की उत्पादन-शक्ति एक अनिश्चित सीमा तक बढ़ाई जा

सकती है; विद्युत्-शक्ति के द्वारा वह जल-प्रपात, नदियों और प्रबल वायु के झोकों आदि को काम में ला सकता है। सूर्य अपना काम करेगा ही। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए हर एक वस्तु की इफरात रहेगी। इस समय केवल थोड़े-से मनुष्य, जिनके हाथ में शक्ति है, सभ्यता की इन बरकतों से फायदा उठाते हैं; जब कि बाकी आदमी उनसे सर्वथा वंचित रहते हैं। इस भलाई का क्षेत्र और भी विस्तृत बनाइए, और तब वह सब लोगों के लिए पर्याप्त हो जायगी।'' परन्तु असल बात तो यह है कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति है, वे बहुत समय से केवल उन्हीं वस्तुओं का उपभोग करते नहीं चले आते हैं जिनकी उन्हें आवश्यकता है, वरन् उन वस्तुओं का भी कि जिनकी उन्हें कोई जरूरत नहीं है। वे जो कुछ भी पाते हैं चट कर जाते हैं। इस कारण सुखोपभोग के पदार्थों की मात्रा कितनी ही क्यों न बढ़ जाय, लोगों के लिए कितनी ही सुविधाएं क्यों न कर दी जायं, जो लोग सबके ऊपर हैं—अधिकारी–वर्ग—वे उन सारी वस्तुओं को अपने अधिकार में कर लेंगे।

कोई भी मनुष्य आवश्यक वस्तुओं का एक निश्चित मात्रा से अधिक उपयोग नहीं कर सकता, पर विलासिता की वस्तुओं की कोई सीमा नहीं है। हजारों-लाखों मन रोटी घोड़ों और कुत्तों को खिला दी जा सकती है; करोड़ों एकड़ जमीन में पार्क और टेनिस-लॉन इत्यादि बनाये जा सकते हैं, जैसा कि इस समय हो रहा है। इसलिए उत्पादन शक्ति तथा धन की वृद्धि से निम्न-श्रेणी के लोगों को सुख-समृद्धि में एक अणु-मात्र भी वृद्धि उस समय तक नहीं हो सकती जबतक कि उच्च श्रेणी के लोगों के हाथ में शक्ति है, और बचे हुए धन को विलासिता की वस्तुओं में व्यय करने की उनमें इच्छा है, इसके विपरीत, उत्पादन शक्ति की वृद्धि से, तो प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर अधिकार पा जाने के कारण उच्च-श्रेणी के लोगों को, जिनके हाथ में अधिकार या शक्ति है, और भी अधिक शक्ति की प्राप्ति होती है--जिसके द्वारा वे इन निम्न

श्रेणी के श्रमजीवियों के ऊपर अपना अधिकार बनाये रख सकें।

और जब इन निम्न-श्रेणी के श्रमजीवियों की ओर से अमीर आदमियों के साथ हिस्सा बंटाने का प्रयत्न किया जाता है—जिस समय क्रान्तिकारी-आन्दोलन और हड़ताल किये जाते हैं—उस समय लड़ाई-झगड़ा उठ खड़ा होता है जिसमें धन का व्यर्थ व्यय होता है। लड़ने वाले लोग कहते हैं—"यदि मुझे नहीं मिलता है तो और किसी को क्यों मिले?"

प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने और सांसारिक संपत्ति को इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न करने का प्रयत्न, जिससे संसार में इसकी कहीं पर भी कमी न रह जावे और सब जगह काफी इफरात हो जाय, ताकि प्रत्येक मनुष्य को अपना-अपना हिस्सा मिल सके, ऐसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसा कि एक खुले मकान को गर्म करने के लिए चूल्हा जलाना है। आप आग को चाहे जितना ही बढ़ावें, ठंडी हवा आकर फिर फौरन उसकी जगह ले लेगी; और इस प्रकार उस मकान में सब जगह बराबर गर्मी नहीं पहुंच सकेगी। जबतक ठंडी हवा आती और गर्म हवा बाहर जाती रहेगी तबतक ऐसा ही रहेगा।

अबतक जिन तीन उपायों का आविष्कार हुआ है। उनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि इनमें से सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण कौन-सा है—क्योंकि वे सभी एक से मूर्खतापूर्ण हैं।

इनमें से पहला उपाय, जिसके आविष्कर्ता क्रान्तिवादी लोग हैं, यह है कि उच्च-श्रेणी वाले मनुष्य-समाज को मिटा दिया जाय जो सारे का सारा धन चट कर जाता है। यह उपाय वैसा ही है, जैसा किसी आदमी का इस खयाल से, कि जब चिमनी न होगी तो गर्मी बाहर न निकलेगी, किसी चिमनी को तोड़ने लग जाना जिससे गर्मी बाहर निकल रही हो। लेकिन अगर गर्मी का रुख और रफ्तार वही है तो जो सूराख उस चिमनी की जगह पर रह गया है उससे भी गर्मी उसी तरह निकलती रहेगी जिस तरह कि चिमनी से निकलती थी। उसी प्रकार जब-

तक शासनाधिकार बना रहेगा तबतक धन भी उन्हीं लोगों के पास जाता रहेगा जिनके हाथ में शासनाधिकार रहेगा।

दूसरा उपाय, जिसको इस समय विल्हेम कैसर काम में लाने जा रहे हैं, यह है कि वर्तमान व्यवस्था में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन न किया जाय बल्कि उच्च-श्रेणी वालों से, जिनके हाथ में धन और शक्ति है, इस धन का एक थोड़ा-सा अंश ले लिया जाय और उसे दरिद्रता के इस अथाह गहरे गढ़े में फेंक दिया जाय। (वह भूखों मरने वाले इन दुःखी-गरीबों में बांट दिया जाय) यह ऐसा ही है जैसा कि उस चिमनी के सिरे पर, जिसमें से होकर गर्मी निकल रही है, पंखे लगाकर नीचे की ओर वापस लाने के इरादे से निकलती हुई गर्मी को पंखों की मदद से नीचे उतारने की कोशिश करना है। यह एक ऐसा काम है, जो साफ तौर पर कठिन और बेकार है, क्योंकि जिस समय गर्मी नीचे की ओर से ऊपर को चढ़ती है, उस समय चाहे जितना भी कोई उसे नीचे उतारने की कोशिश करे (और कोई मनुष्य ज्यादा नीचे गर्म हवा को उतार भी नहीं सकता) वह फिर फौरन ऊपर की ओर बढ़ जायगी और सारी मेहनत बेकार हो जायगी।

तीसरा और अन्तिम उपाय यह है, जिसकी शिक्षा इस समय विशेष रूप से अमेरिका में दी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धा-पूर्ण और वैयक्तिक जीवन के स्थान में साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रचार किया जाय, ऐसे सिद्धान्त का जिसमें एसोसियेशनों और को-आपरेशनों (सहयोग-समितियों) के कायम करने की बात बतलाई गई है। 'डॉन' और 'नेशनलिस्ट' नामक समाचार-पत्रों में इसको यों समझाया है कि वाचा और कर्मणा सहयोग की शिक्षा दी जाय। क्योंकि प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवाद और लड़ाई-झगड़े से अधिकाधिक शक्ति और इसके परिणाम-स्वरूप धन का क्षय हो रहा है। इसके बदले यदि इस सहयोग के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपना सारा काम लोक-हितार्थ (सर्व-साधारण के लिए) करे और अन्त में सार्वजनिक सम्पत्ति में से अपना

हिस्सा ले तो उससे प्रत्येक को कहीं अधिक लाभ पहुंच सकता है। यह सब बड़ा ही उत्तम है, परन्तु इसमें सबसे बड़ी बुराई यह है कि प्रथम तो कोई भी मनुष्य यह नहीं जानता है कि जब सब चीजें बराबर बांट दी जायेंगी, उस समय प्रत्येक मनुष्य का हिस्सा क्या होगा। इसके अलावा, हरएक आदमी का हिस्सा, चाहे कुछ भी हो जो लोग इस समय विलासितापूर्ण और अमीराना जिन्दगी बसर करते हैं, उनके लिए वह अपर्याप्त (नाकाफी) ही मालूम होगा। "सब लोग सुखी एवं सम्पन्न होंगे, और तुम भी वैसे ही सुखी और सम्पन्न होंगे, जैसे कि दूसरे लोग।" —"परन्तु मैं बाकी आदमियों की तरह रहना नहीं चाहता, मैं उनसे अच्छी हालत में रहना चाहता हूं। मैं हमेशा से दूसरों से अच्छी हालत में रहता आया हूं और मैं ऐसे जीवन का आदी हो गया हूं।"— "और मैं, मैं तो मुद्दतों से सब लोगों से खराब हालत में रहता आया हूं, और अब मैं उसी तरह रहना चाहता हूं जिस तरह दूसरे लोग रहते हैं।" यह उपाय सबसे निकृष्ट उपाय है, क्योंकि इसमें यह समझने की भूल की गई है कि जब कि सभी अच्छे जीवन की कोशिश कर रहे हैं कुछ लोगों से संयम की आशा की जा रही है।

एक-मात्र उपाय तो यह है कि लोगों पर उनके सच्चे-हित की बात प्रकट कर दी जाय, और उन्हें यह दिखला दिया जाय कि धन एक बहुत बड़ी बरकत नहीं किन्तु लोगों को उनसे उनकी सच्ची भलाई की बात छिपाकर, अपने हित से विमुख रखने वाली वस्तु है।

इसका केवल एक ही उपाय है और वह यह कि सांसारिक इच्छाओं रूपी छिद्र को बन्द कर दिया जाय। केवल इसी से उष्णता का समान वितरण हो सकेगा। पैदावार को बढ़ाने का प्रयत्न करने और इस प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति की वृद्धि करने से सर्व-साधारण का कल्याण नहीं हो सकता। आग में कहीं घी डालने से आग बुझती है?

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते॥"

: ४ :

अराजकता

अराजक लोगों का यह कथन सम्पूर्णतया ठीक है कि वर्तमान व्यवस्था को नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इस समय जैसी दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी फैली हुई है, अधिकारी वर्ग के न रहने पर उससे अधिक दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी न होगी। उनका सिर्फ यह ख़याल ग़लत है कि अराजकता की स्थापना केवल हिंसामय क्रान्ति के द्वारा ही हो सकती है। अराजकता की स्थापना अवश्य होगी। किन्तु उसकी स्थापना केवल उसी समय हो सकेगी, जब इस राजकीय शक्ति द्वारा अपनी रक्षा न चाहने वाले आदमियों की संख्या बढ़ेगी, जब ऐसे लोगों की संख्या बढ़ेगी जिन्हें इस शक्ति को काम में लाते लज्जा मालूम होगी।

"यह सारा पूंजी-पतियों का संगठन श्रमजीवियों के हाथ में चला जायगा, और उस समय श्रम-जीवियों के ऊपर कोई भी अत्याचार न होंगे और कमाई का अनुचित (विषम) विभाग भी न होगा।"

"लेकिन सवाल यह है कि उस समय काम की व्यवस्था कौन करेगा? उनका शासन किसके हाथ में होगा?"

"यह सब आप-से-आप होता रहेगा। श्रमजीवी लोग स्वयं हर एक बात का प्रबन्ध कर लेंगे।"

"लेकिन यह पूंजी-पतियों का संगठन केवल इसीलिए किया गया था कि प्रत्येक काम की व्यवस्था करने के लिए ऐसे व्यवस्थापकों की आवश्यकता है जिनके हाथ में कुछ शक्ति हो। पर जहां शक्ति होगी

वहां उसका दुरुपयोग भी होगा—वही बात जिसके मिटाने की तुम इस समय कोशिश कर रहे हो।

इस प्रश्न का कि, बिना सरकार के, बिना अदालतों के और बिना सेना के काम कैसे चलेगा, कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यह प्रश्न ही गलत है। समस्या यह नहीं है कि आजकल के आदर्श की अथवा किसी नवीन आदर्श की सरकार की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है। न मैं और न हममें से कोई अन्य व्यक्ति इस प्रश्न का फैसला करने के लिए नियुक्त किया गया है।

पर तो हमारे लिए भी इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है कि मेरे सामने हमेशा खड़ी रहने वाली इस समस्या का मुकाबिला मैं किस प्रकार करूंगा? क्या मुझे अपना अन्तःकरण उन कामों के हवाले कर देना चाहिए जो हमारे चारों ओर संसार में हो रहे हैं? क्या मुझे इस बात की घोषणा कर देनी चाहिए कि मैं उस सरकार के कामों से सहमत हूं, जो गलती करने वाले आदमियों को फांसी पर लटकवा देती है, जो लोगों को कत्ल करने के लिए फौजें रखती और भेजती है, जो दुनिया की कौमों को अफ़ीम-खोरी तथा शराब-खोरी में डालकर उनका सत्यानाश करती है? अथवा मुझे अपने सारे काम अपनी अन्तरात्मा के आदेशों के अनुसार करने चाहिएं? अर्थात् क्या मुझे उस सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करने से इन्कार कर देना चाहिए जिसके सारे काम मेरी अन्तरात्मा के विरुद्ध होते हैं?

इस प्रकार मनुष्यों के दिमाग़ में क्रान्ति होने पर उसका परिणाम क्या होगा? तब मौजूदा सरकारों के स्थान में कैसी सरकार की स्थापना होगी—यह मैं कुछ नहीं जानता। इसलिए नहीं कि मैं उसे जानना ही नहीं चाहता, बल्कि इसलिए कि मैं उसे जान ही नहीं सकता। हां, मैं इतना जरूर जानता हूं कि, यदि मैं विवेक और प्रेम अथवा विवेकशील प्रेम के उच्चादर्श पर, जो कि मुझमें जन्म से ही विद्यमान है, चलूंगा और अपने कामों को करता रहूंगा, तो इसका परिणाम बुरा

न होगा। एक मधु-मक्षिका (शहद की मक्खी) अपनी अन्तःप्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने और मर-मिटने के लिए अपने छत्ते के बाहर निकलकर अन्य मधु-मक्षिकाओं के साथ समूह-रूप से उड़ने को चली जाती है और उसका कोई बुरा परिणाम नहीं होता। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी अंतरात्मा के आदेश के अनुसार चलना चाहिए। परन्तु मैं यह फिर कहूंगा कि न मैं इसका फैसला करना चाहता हूं और न कर ही सकता हूं।

यही महात्मा ईसामसीह के उद्देशों की महत्ता और शक्ति है—यह नहीं कि ईसा ईश्वर अथवा एक महापुरुष थे। किन्तु उनकी यह शिक्षा अखण्डनीय है। उनके उपदेश का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस विषय को शाश्वत (निरंतर बने रहने वाले) सन्देह और अनुमान के साम्राज्य से निकालकर निश्चय के समतल पर पहुंचा दिया है। "तू एक मनुष्य है, एक बुद्धिमान् और दयालु प्राणी है, और तू इस बात को जानता है कि ये गुण सर्वोत्कृष्ट हैं। इसके अतिरिक्त तू यह भी जानता है कि आज अथवा कल किसी-न-किसी दिन तू मरेगा, तुझे इस संसार को छोड़ना होगा। यदि कहीं पर ईश्वर है, तो मुझे उसके सामने जाना होगा, और वह तुझसे तेरे कामों का लेखा (हिसाब) मांगेगा। यह पूछेगा कि तूने उसकी आज्ञा (कानून) के अनुसार अथवा कम-से-कम, उन विशिष्ट गुणों के अनुसार कार्य किया है या नहीं जो उसने तुझमें उत्पन्न किये हैं। यदि कहीं ईश्वर नहीं है, तो तू बुद्धि (Reason) और प्रेम (Love) को मनुष्यों के सर्वोत्कृष्ट गुण समझ और तब तू अपनी अन्य सारी वृत्तियों को उन्हीं के हवाले कर दे, उन्हें अपने पशु-स्वभाव की दासी न बनने दे—उन्हें जीवन-सम्बन्धी वस्तुओं की चिन्ता की, दुःखादि के भय की और सांसारिक विपत्तियों की चेरी न बनने दे।"

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सा समाज अधिक सुरक्षित होगा, अधिक अच्छी दशा में होगा—वह

जिसकी रक्षा शस्त्र-बल की सहायता से, बड़ी-बड़ी तोपों-बन्दूकों की सहायता से अथवा लोगों को फाँसी का भय दिखलाकर की जाती है, अथवा वह जिसकी रक्षा के लिए ऐसे कोई भी साधन नहीं है। परन्तु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है और उस प्रश्न की उपेक्षा करना उसके लिए असम्भव है, अर्थात् यह कि—"क्या तू, जो एक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ प्राणी है, जो थोड़े-से समय के लिए इस संसार में आया है और जिसका किसी भी समय नाश हो सकता है, भूल (गलती) करने वाले आदमियों अथवा किसी भिन्न जाति, कुटुम्ब अथवा सम्प्रदाय के मनुष्यों की हत्या में भाग लेना पसन्द करेगा? क्या तू समस्त असभ्य समझी जाने वाली जातियों को पृथ्वी-तल से मिटा देने में भाग लेना पसन्द करेगा, क्या तू अपने लाभ के लिए अन्य जातियों को शराब-खोरी और अफीम-खोरी के दुर्व्यसनों में फंसाकर परम-पिता की सन्तान के कृत्रिम विनाश का कारण बनना पसन्द करेगा? क्या तू इन सब कामों में हिस्सा लेगा अथवा उन लोगों के साथ अपनी सहमति प्रकट करेगा जो इन कामों की इजाजत देते हैं अथवा तू इन सबसे अलग रहेगा?"

जिन लोगों के सामने यह प्रश्न उपस्थित है, उनके लिए इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या होगा, इस बारे में मैं कुछ भी नही जानता, क्योंकि यह मेरे जानने की बात नहीं है। परन्तु किया क्या जाना चाहिए यह बात मैं अवश्य जानता हूं।

यदि तुम पूछो—"इसका अन्त क्या होगा?" तो इसका उत्तर मैं यह देता हूं कि इसका अन्त अच्छा अवश्य होगा; क्योंकि बुद्धि और प्रेम के बतलाये मार्ग पर चलने से मैं उस सबसे बड़े कानून के अनुसार कार्य कर रहा हूं, और जो मुझे ईश्वर से प्राप्त हुआ है।

× × × ×

उन अधिकांश भद्र पुरुषों की स्थिति बड़ी भयंकर और निराशा-

पूर्ण प्रतीत होती है, जिनके हृदय में सच्चे विश्व-बन्धुत्व के भाव तो जागृत हो चुके हैं। पर जो इस समय पर-धनापहरण करने वाले कलुषित-आत्मा लोगों के कपट-जाल और मक्र-फरेब का शिकार हो चुके है, जो उन्हें अपना जीवन सत्यानाश करने के लिए विवश कर रहे हैं।

केवल दो मार्ग ही हमें दिखलाई पड़ते हैं और सो भी वे दोनों बन्द (रुद्ध) हैं। एक तो हिंसा या बल-प्रयोग (Violence) को हिंसा या बल-प्रयोग, भय-प्रदर्शन, डाइनामाइट, बम और तलवार के जोर से नष्ट करना, जैसा कि हमारे "निहलिष्टों" (रूस के नास्तिक) और अराजकों ने उद्योग किया है, अर्थात् सरकारों की ओर से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विरुद्ध किये जाने वाले षड्यन्त्र का बाहर से नाश करना। दूसरा यह कि सरकार के साथ सुलहनामा कर लिया जाय, उसे कुछ सुविधाएं प्रदान कर दी जायं, उसमें हिस्सा लिया जाय—अर्थात् उसके साथ सहयोग किया जाय, जिससे धीरे-धीरे उस पाश का ग्रन्थि-विच्छेद किया जा सके जो लोगों को जकड़े हुए हैं, और वे स्वतन्त्र (आजाद) किये जा सकें। पर ये दोनों मार्ग बन्द हैं।

जैसा कि अनुभव से ज्ञात हुआ है, बम और तलवार के प्रयोग का परिणाम केवल उलटा होता है, उससे लाभ के बदले हानि होती है, सफलता का मार्ग रुंध जाता है और उस अधिक-से-अधिक कीमती शक्ति अर्थात् लोक-मत का जो हमारे हाथ में एक-मात्र अस्त्र है, नाश हो जाता है।

दूसरा, सहयोग का, मार्ग इसलिए बन्द है कि सरकारों ने यह बात पहले से ही समझ ली है कि वे किस हद तक ऐसे लोगों का हस्तक्षेप अथवा सहयोग स्वीकार करें, जो उनका सुधार करना चाहते हैं। वे केवल उसी हद तक सहयोग अथवा हस्तक्षेप बर्दाश्त कर सकती हैं जिससे उनके किसी काम में बाधा नहीं रहती हैं—पर जो बातें उनके लिए हानिकर हैं, उनमें वे सदैव सतर्क रहती हैं—इस कारण कि इसका सम्बन्ध स्वयं उनके अस्तित्त्व से है। वे अपने से

भिन्न विचार अथवा मत रखने वाले आदमियों को—ऐसे आदमियों को जो उनका सुधार चाहते हैं—केवल इसीलिए अपने यहां नहीं ले लेतीं कि वे इन आदमियों की मांगें पूरी करना चाहती हैं, बल्कि इस-लिए भी कि इनमें इनका भी स्वार्थ है। ये लोग सरकारों के लिए बड़े ही खतरनाक साबित हों यदि वे बाहर रहें और उनके खिलाफ लोगों में बगावत फैलावें उस चीज का सरकारों के विरुद्ध उपयोग करते रहें जो इन सरकारों के हाथ में एक-मात्र साधन (अस्त्र) है—लोकमत। अतएव सरकारों को इन लोगों के लिए कुछ सुविधाएं (रियायतें) करके प्रलोभन देकर उन्हें निरस्त्र करना पड़ता है, जिससे वे उनको कोई हानि न पहुंचा सकें। फिर वे उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करती हैं—अर्थात् उनसे प्रजा-पीड़न आदि में सहायता लेती हैं।

ये दोनों ही मार्ग बड़ी मजबूती के साथ बन्द और दुर्गम कर दिये गये हैं, अब और कौन-सा मार्ग शेष रह जाता है?

बल-प्रयोग से काम लेना असम्भव है इसका परिणाम उलटा ही होगा। सरकारी नौकरियों और पदों का स्वीकार करना भी असंभव है—इससे मनुष्य सरकार के हाथ की कठ-पुतली बन जाता है इसलिए केवल एक मार्ग ही अवशेष रह जाता है—विचारों से, वाणी से कार्य से और अपनी सारी शक्ति लगाकर सरकार के साथ युद्ध करना—न उसकी अधीनता स्वीकार करना और न उसकी नौकरियों और पदों को स्वीकार कर उसकी शक्ति को बढ़ाना।

अकेले इसी एक बात की आवश्यकता है, और यही निश्चित सफलता का एक-मात्र मार्ग है।

यही ईश्वर की आज्ञा है और महात्मा ईसा-मसीह के उपदेश का यही सार है।

× × ×

इस समय हम उस स्थिति को पहुंच गये हैं जब एक शुद्ध-हृदय

और बुद्धिमान् मनुष्य किसी राज्य (सरकार) के कामों में किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता, अर्थात् (रूस का तो कहना ही क्या है) इंग्लैण्ड में भी जमींदारी की प्रथा से, बड़े-बड़े वस्तु-निर्माण करने वाले कारखानों के मालिकों, पूंजीपतियों द्वारा किये जानेवाले कामों से, भारतवर्ष में प्रचलित प्रथाओं, अर्थात् कोड़ेबाजी, और अफीम के व्यापार आदि से अफ्रीका की सारी-की-सारी कौमों को पृथ्वी-तल से मिटा देने के लिए किये जानेवाले राक्षसी प्रयत्नों से, लड़ाइयों और लड़ाइयों के लिए की जानेवाली तैयारियों से सहमत नहीं हो सकता है।

जिस बात के आधार पर मनुष्य यह कहता है कि—"मैं नहीं जानता कि सरकार क्या चीज है, और वह क्यों कायम है, और मैं इस बात को जानना भी नहीं चाहता; परन्तु मैं यह बात जरूर जानता हूं कि मैं अपने अन्तःकरण के विरुद्ध अपना जीवन नहीं बना सकता—"वह एक बहुत ही दृढ़ विचार है। इस समय के लोगों को चाहिए कि यदि वे अपने जीवन में कुछ भी उन्नति करना चाहते हैं तो वे इसके ऊपर दृढ़ रहें। "मैं इस बात को जानता हूं कि मेरा अन्तःकरण मुझे किस बात की आज्ञा देता है; रही तुम्हारी बात; सो हे राजपुरुषो, तुम राज्य की ऐसी व्यवस्था कर लो जैसी कि तुम चाहते हो, ताकि वह इस समय के मनुष्यों के अन्तःकरण की मांग के बिलकुल अनुकूल हो।"

परन्तु लोग इस दुर्गम स्थान का परित्याग कर रहे हैं, सुधार के विचार से तथा सरकार के कामों में उन्नति करने के ख्याल से वे उससे सहयोग करते हैं और इस प्रकार वे अपने अजेय और दुर्भेद्य स्थान से अलग हो जाते हैं।

: ५ :

सुधार के तीन तरीके

श्रमजीवियों की दशा सुधारने और लोगों में भ्रातृ-भाव स्थापित करने के तीन उपाय हैं।

१—लोगों से अपने लिए जबर्दस्ती काम न कराना; प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार उनसे काम करने को न कहना; ऐसी चीजों की आवश्यकता को कभी उत्पन्न न करना जिनके बनाने में विशेष परिश्रम की आवश्यकता है—ऐसी सभी वस्तुएं विलासता की सामग्री हैं।

२—अपने लिए, तथा, यदि संभव हो सके तो, दूसरों के लिए भी ऐसा काम करना जो थका देनेवाला और अरुचिकर हो।

३—जो वास्तव में एक उपाय नहीं किन्तु इस दूसरे उपाय का परिणाम और उसका प्रयोग है, प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और परिश्रम घटानेवाले उपायों—कलों, वाष्प-शक्ति, विद्युत्-शक्ति आदि का आविष्कार करना। सिर्फ आवश्यक वस्तुओं का ही (जिनमें कोई भी बात अनावश्यक और व्यर्थ नहीं है,) आविष्कार केवल उसी समय मनुष्य कर सकेगा जब वह इन वस्तुओं के आविष्कार द्वारा स्वयं अपने परिश्रम को, अथवा कम-से-कम उस परिश्रम को घटाना चाहता है जिसका उसने स्वयं अनुभव किया है।

परन्तु इस समय लोग केवल इस तीसरे उपाय को काम में लाने में व्यस्त हैं, और वह भी गलत तरीके पर, क्योंकि वे दूसरे उपाय से (जो ऊपर बतलाया गया है) बिलकुल दूर रहते हैं। और फिर यही

नहीं कि वे पहले और दूसरे उपाय को काम में लाने ही के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि वे उनकी बात भी सुनना नहीं चाहते।

× × × ×

केवल एक ही क्रान्ति स्थायी हो सकती है, नैतिक क्रान्ति—अन्तरात्मा का परिवर्तन।

यह क्रान्ति किस प्रकार हो? इस बात को कोई भी नहीं जानता कि मानव-समाज के अन्दर इसका आविर्भाव कैसे होगा। परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर इसका अनुभव स्पष्ट-रूप से करता है। फिर भी इस संसार में प्रत्येक मनुष्य मानव-जाति में परिवर्तन करने का ही विचार किया करता है। कोई यह नहीं सोचता कि अपने अंदर कैसे परिवर्तन किया जाय।

× × × ×

लोगों ने गुलामी की प्रथा तथा गुलामों के रखने के अधिकार को तो मिटा दिया, परन्तु लोगों ने अपना अमीराना रहन-सहन बिना जरूरत दिन में चार-चार बार कपड़ों का बदलना, बड़े-बड़े आलीशान महलों में रहना, खाने में दस-दस तश्तरियों का लगना और घोड़ा-गाड़ियों तथा मोटरों, फिटनों आदि की सवारी, इत्यादि को अब भी जारी रखा है। इन सारी चीजों का होना बिना गुलामों के रहे असंभव है। यह बात सब पर भली-भांति प्रकट है। पर तो भी यह किसी को दिखाई नहीं पड़ता।

धर्म

१. धर्म का तत्त्व

२. प्रेम की परीक्षा

३. बुद्धि और प्रेम

४. चमत्कार और चमत्कार-कर्त्ता

: १ :

धर्म का तत्त्व

लोग इस समय नाना प्रकार के दुःख इसलिए भोग रहे हैं कि अधिकांश जन-समाज धर्म-हीन जीवन व्यतीत कर रहा है। यहां धर्म शब्द से तात्पर्य उस धर्म से नहीं है जिसकी समाप्ति कुछ धार्मिक सिद्धान्तों को मान बैठने, और कुछेक मनोरंजक धार्मिक विधि-नियमों का पालन कर लेने में ही हो जाती है, जिनसे अपने-आपको धैर्य और संतोष मिल जाता है और कुछ आत्मोत्साह भी बढ़ जाता है। यहां तात्पर्य ऐसे धर्म से है जो मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित और दृढ़ करता है, और इसलिए मनुष्य के सारे कर्मों का एक उच्चादर्श के ऊपर सुचारु रूप से संचालन करता है, और जिसके बिना मनुष्य-जाति बिलकुल पशुवत् वरन् उससे भी हीन बनी रहती है। यह बुराई जो मनुष्य-जाति को अधःपतन के गहन गढ़े की ओर खींचे लिये जा रही है, जहां पर उसका नाश अनिवार्य है, इस समय अपनी विशेष शक्तियों के साथ प्रकट हुई है। क्योंकि जीवन में बुद्धि का पथ-प्रदर्शन न रहने तथा लोगों की शक्ति के मुख्यतः विज्ञान-सम्बन्धी खोज और उन्नति में लग जाने के कारण मनुष्यों ने प्रकृति के ऊपर अतुल शक्ति प्राप्त कर ली है। परन्तु इस शक्ति का उचित प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इस बात का कोई मार्ग-दर्शक न होने के कारण उन्होंने स्वभावतः उसका उपयोग अपनी पाशविक शक्तियों तथा इंद्रियों की तृप्ति करने में ही किया है।

धर्म-विहीन होने के कारण ये मनुष्य प्रकृति के ऊपर अतुल-शक्ति प्राप्त होते हुए भी उन बालकों के समान हैं जिन्हें गोला-बारूद अथवा विस्फोटक पदार्थ खेलने के लिए दे दिये गए हों। इस शक्ति पर, जो कि इस समय के लोगों को प्राप्त है, तथा उस ढंग पर, जिस ढंग से वे उसका इस्तैमाल करते हैं, विचार करने पर यह मालूम होता है कि यदि उनके नैतिक विकास को दृष्टि में रखा जाय तो मनुष्यों को रेल, भाप, विद्युत्-शक्ति, टेलीफोन, फोटोग्राफी, बिना तार का तार आदि का ही नहीं वरन् लोहा और फौलाद बनाने की साधारण कला के भी इस्तैमाल का अधिकार नहीं है। उन्नति की इन सारी वस्तुओं तथा कलाओं का प्रयोग वे केवल अपनी काम-पिपासा बुझाने, आमोद और ऐय्याशी की जिन्दगी बसर करने तथा एक-दूसरे का नाश करने में करते हैं।

तो फिर ऐसी दशा में होना क्या चाहिए? क्या जीवन के इन समस्त सुधारों का, उस सारी शक्ति का, जो मानव-जाति को प्राप्त हुई है, एकदम परित्याग कर दिया जाय? क्या उन सारी बातों को भुला दिया जाय जो मानव-जाति ने सीखी हैं? यह असम्भव है। इन आविष्कारों का (जो मानसिक विकास का फल हैं) प्रयोग कितने ही हानि-कारक ढंग से क्यों न किया गया हो, तो भी वे मनुष्य की प्राप्त की हुई वस्तुओं और मानव-जाति के विकास के द्योतक हैं, और हम उन्हें भूल नहीं सकते। क्या भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के उस पारस्परिक सम्बन्ध को तोड़ दिया जाय जो शताब्दियों में स्थापित हो सका है, और उनकी जगह नये सम्बन्ध स्थापित किये जायं? क्या ऐसी नवीन संस्थाओं को जन्म दिया जाय जो बहु-संख्यक मनुष्य-समाज को रोक सकें? क्या ज्ञान के प्रचार की सलाह आप दे रहे हैं? ये सब बातें आजमाई जा चुकी हैं और इन्हें बड़े चाव और उत्साह के साथ किया भी जा रहा है। उन्नति के ये समस्त कल्पित उपाय अपने-आपको परेशानी में डालने और निश्चित नाश की ओर से ध्यान को हटाने के मुख्य उपाय हैं। राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हो गया है, संस्थाएं बदल गई हैं, ज्ञान

का भी खूब प्रचार हो गया है। परन्तु दूसरी सीमाओं के अन्दर दूसरी संस्थाओं के साथ, और परिवर्धित ज्ञान के साथ भी मनुष्य वैसे ही पशु बने हुए हैं जो हर समय एक-दूसरे को नोच डालने के लिए तैयार रहते हैं, अथवा वैसे ही गुलाम (दास) बने हुए हैं जैसे कि वे हमेशा रहे हैं। और वे हमेशा इसी तरह रहेंगे, जबतक कि उनका मार्ग-दर्शक (नियन्ता) धार्मिक ज्ञान नहीं वरन् काम, क्रोध आदि इन्द्रियों के विकार, मानसिक भावनाएं तथा बाहरी जोर व दबाव इत्यादि रहेंगे।

मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता; वह या तो सब से अधिक अविवेकवान् और घमण्डी आदमियों का गुलाम होगा, अथवा ईश्वर का दास (नौकर)। क्योंकि मनुष्य के लिए स्वतन्त्र होने का केवल एक ही मार्ग है—ईश्वर की आज्ञानुसार कार्य करना। पर कुछ लोग तो धर्म को मानते ही नहीं, कुछ उन बाह्य और विचित्र बातों को ही धर्म माने बैठे हैं, जो बिलकुल धर्म-विरुद्ध हैं; और कुछ केवल अपनी कामेन्द्रियों के झोके चलते हैं। ये सब मनुष्यों के बनाये कानून को डरते हैं और राम-दास होने के बजाय काम-दास होजाते हैं, अतएव वे वैसे ही पशु अथवा गुलाम बने रहेंगे। बाहर से किया गया कोई भी प्रयत्न उनको इस अवस्था से निकाल नहीं सकेगा, क्योंकि केवल धर्म ही मनुष्य को स्वतन्त्र बनाता है।

पर हमारे जमाने के तो अधिकांश लोग धर्महीन हैं।

(२)

थोड़े समय से लोग अपना धर्म खो बैठे हैं। इसीलिए वे नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं।

वर्तमान धर्म तथा उस मानसिक और वैज्ञानिक विकास के (जो इस समय मनुष्य-जाति को प्राप्त हुआ है), बीच जो भेद है उसे देख-कर जिन लोगों ने यह तय किया है कि साधारणतः किसी भी प्रकार के धर्म की मनुष्य को आवश्यकता नहीं। वे बिना धर्म के अपना जीवन

बिता रहे हैं, और लोगों को यह उपदेश देते हैं कि धर्म चाहे किसी भी प्रकार का और कैसा ही हो, व्यर्थ है। दूसरे लोग भी जो धर्म के उस विकृत रूप के मानने वाले हैं, जिसकी शिक्षा लोगों को इस समय दी जा रही है, अन्य लोगों की भांति धर्म-हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं और केवल उन्हीं बाहर की खोखली बातों को धर्म समझते हैं, जो मनुष्यों के सच्चे मार्ग की दर्शिका नहीं हो सकती।

तथापि वह धर्म, जो हमारे समय की सारी मांगों को पूरा करता है अब भी वर्तमान है तथा सब मनुष्यों पर प्रकट है, और गुप्त रूप में संसार के लोगों के हृदयों में विद्यमान है। इसलिए, इस धर्म को सब लोग समझ जायं और उसके अनुसार सब काम करें। इसके लिए केवल एक बात की आवश्यकता है। शिक्षित समाज के लोग—जो अशिक्षितों के नेता (मार्ग-दर्शक) हैं—यह समझ लें कि मनुष्य के लिए धर्म एक आवश्यक वस्तु है। बिना धर्म के मनुष्य अच्छा जीवन नहीं बिता सकता। और विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। सत्ताधारी तथा प्राचीन समय के खोखले धर्म का समर्थन करने वाले इस बात को समझ लें कि वे जिस बात को धर्म समझ कर उसका समर्थन करते हैं और लोगों को उसकी शिक्षा देते हैं, वह धर्म तो है ही नहीं बल्कि मनुष्यों के सच्चे धर्म की प्राप्ति के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा है। अतएव मनुष्य की मुक्ति का एक-मात्र निश्चित उपाय यह है कि वह उन कामों का करना छोड़ दे जो मनुष्यों को सच्चे धर्म को पहचानने से रोकते हैं जो पहले से ही उनके अन्तःकरण में विराजमान है।

(३)

जो लोग जान-बूझ कर अथवा अनजान में धर्म की ओट में अधूरे मिथ्या-धर्म का प्रचार करते हैं, वे इस बात को समझ लें कि ये सारे धार्मिक सिद्धान्त,(नियम) प्रतिज्ञाएं तथा विधि-नियम, जिनका वे समर्थन करते हैं और जिनकी शिक्षा देते हैं, अत्यधिक हानिकारक हैं, क्योंकि

वे मनुष्यों से उस केन्द्रीय धार्मिक सत्य को छिपाये रहते हैं जिसका तात्पर्य है ईश्वर की आज्ञा का पालन करना—मनुष्य-जाति की सेवा करना—दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना जैसा कि कोई मनुष्य चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें यही वास्तविक धर्म का मूलमंत्र है।

लोगों को चाहिए कि वे अपने जीवन के उद्देश्य को समझ लें और उसे अपने सामने हमेशा रखें। पर यह तभी होगा जब वे धर्म के विषय में अपना गलत खयाल छोड़ देंगे। धर्म के मानी पुनः प्राचीन असभ्यावस्था को लौट जाना नहीं है। यदि किसी का यह खयाल हो तो वह उसे दूर कर दे। लोगों को सदाचारी और सुखी बनाने के लिए प्रचलित शिक्षा भी काफी नहीं है। विविध विषयों की जानकारी से मनुष्य के चरित्र पर क्या असर पड़ सकता है? लोग सुखी तभी होंगे जब वे अपने-अपने धर्म को समझ लेंगे, जो उनके अन्तःकरण में पहले से ही विद्यमान है। जो लोग जान-बूझ कर अथवा अनजान में धर्म-सम्बन्धी मिथ्या बातें बनाकर मनुष्यों को ठग रहे हैं, उन्हें ऐसा करना छोड़ देना चाहिए। केवल पूजा-पाठ, या मंदिरों, मस्जिदों या गिरजों में जाकर सबके पास प्रार्थना कर लेना सच्चा धर्म नहीं है। मंत्र, तंत्र तथा नाना प्रकार के विधि-विधानों में भी धर्म की परिसमाप्ति नहीं हो जाती, न ये धर्म के अत्यावश्यक अंग हैं। किन्तु धर्म के सच्चे मानी हैं ईश्वर तथा अपने पड़ोसियों से प्रेम करना और इस आज्ञा का पालन करना कि—"दूसरों के साथ वही करो जो तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें" यह नियम सद्धर्म और सदाचार का मूल मन्त्र है।

यदि धर्माधिकारी समझे जाने वाले तथा वैज्ञानिक लोग दोनों इन साधारण, स्पष्ट और आवश्यक सच्ची बातों को समझ लेते और बच्चों तथा अशिक्षित जनों को उनका उपदेश करते, जिस प्रकार कि वे इस समय अपने जटिल, भ्रामक तथा अनावश्यक धार्मिक सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, तो सब लोग एक नियमित रूप से अपने जीवन का अर्थ

समझ जाते और इस अर्थ के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले एक ही प्रकार के कर्त्तव्यों को अपना धर्म मान लेते।

(४)

हां, इस समय सुरंगों, बम के गोलों और मशीनगनों आदि से जो लड़ाई लड़ी जा रही है वह उस आध्यात्मिक लड़ाई के सामने नगण्य है जो मनुष्य के हृदय में ज्ञान और अज्ञान, पाप और पुण्य, प्रकाश और अन्धकार और ईश्वरी तथा शैतानी कल्पनाओं के बीच मची हुई है तथा निरन्तर जारी रहती है।

क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि यदि इस अवस्था से मुक्ति पाने का कोई मार्ग है, तो वह केवल एक ही मार्ग है–वही मार्ग जो महात्मा ईसामसीह ने बतलाया है ?

"पहले तू अपने-आपको उस ईश्वरी साम्राज्य के पाने योग्य बना फिर शेष सब बातें तुझे अपने-आप आ मिलेंगी। यह साम्राज्य तेरे अन्दर ही है।"

जीवन का यही नियम है। सच्चे सुख-समृद्धि की प्राप्ति उस समय नहीं होती जब मनुष्य इस सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न करता है—ऐसे प्रयत्नों का परिणाम, इसके विपरीत, प्रायः यह होता है कि मनुष्य उससे वंचित ही रहता है। किन्तु यह केवल उसी समय प्राप्त होती है जब मनुष्य, इस सुख-समृद्धि की प्राप्ति का बिना विचार किये उस बात के पूर्ण रूप से पालन करने का प्रयत्न करता है जिसे वह ईश्वर के सामने, अपने जन्म-दाता तथा जीवन-सम्बन्धी व्यवस्था के कर्ता के सामने, न्याय्य समझता है। केवल उसी समय अनायास ही इस ऐहिक सुख-समृद्धि की भी प्राप्ति उसे हो जाती है।

इसलिए मनुष्य की सच्ची मुक्ति का मार्ग केवल एक ही है—प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण में, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करे उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार

कार्य करे। यही प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य और एक-मात्र साधन (उपाय) है, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य दूसरों को अपने पक्ष में कर सकता है, और इसीलिए मनुष्य का सारा प्रयत्न इसी ओर—इसी एक बात की ओर–होना चाहिए।

: २ :

प्रेम की परीक्षा

(महात्मा टाल्स्टाय की निजी डायरी से उद्धृत)

कल (ता० २४ जून जन् १८९३ ई०)को मैंने विचार किया—आओ धनिक समाज के उन लोगों के ऊपर (और भी स्पष्ट करने के लिए कहिए एक स्त्री और पुरुष, चाहे वह पति और पत्नी हो, चाहे भाई और बहन, पिता और पुत्री, अथवा मां और बेटा हो) विचार करें; जिन्होंने साफ तौर पर यह समझ लिया है कि विलासितापूर्ण और आलस्य-मय जीवन,जो वे परिश्रम और दरिद्रता से त्रस्त लोगों के बीच में व्यतीत कर रहे हैं, कितना पाप-मय जीवन है।

उन्होंने शहर को छोड़ दिया है, अपनी फालतू चीजों को दूसरों के हवाले कर दिया है (अथवा यों कहिए कि किसी-न-किसी तरह उनसे अपना पीछा छुड़ा लिया है), अपने लिए दो आदमियों की गुजर-बसर के वास्ते सिर्फ १५ पौंड के करीब सालाना आमदनी की मालियत और हिस्से रख छोड़े हैं (अथवा अपने लिए कुछ भी नहीं रखा है), और किसी-न-किसी उद्योग-धन्धे जैसे चीनी मिट्टी के खिलौनों और बर्तनों पर लुक चढ़ाना, अथवा अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद करना इत्यादि से, अपनी जीविका कमा रहे हैं और रूस के देहात के छोटे-छोटे गांवों में रहते हैं।

अपने रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा मोल अथवा किराये पर लेकर, वे अपने खेत अथवा बाग की जमीन को अपने-आप जोतते हैं,

अपनी शहद की मक्खियों की देख-रेख करते हैं, और इसी के साथ-साथ (अपनी योग्यता के अनुसार) गांववालों को दवा-दारू की सहायता करते हैं, उनके बच्चों को पढ़ाते हैं और अपने पड़ोसियों के लिए चिट्ठियां और अर्जियां इत्यादि लिखते हैं।

लोग यह समझेंगे कि इससे अच्छा और कोई जीवन हो ही नहीं सकता। पर तो भी यह जीवन नरक ही होगा अथवा नरक ही हो जायगा, यदि ये लोग पाखण्डी और मिथ्या-भाषी नहीं हैं, अर्थात् यदि उनमें वास्तव में सचाई है।

यदि इन लोगों ने उन सुविधाओं और ऐश-व-आराम की बातों को, जो उन्हें रुपये-पैसे की बदौलत और शहरों में प्राप्त थीं, छोड़ा है, तो ऐसा उन्होंने सिर्फ इसलिए किया है कि वे सब आदमियों को भाई परमपिता परमेश्वर के सामने एक समान मानते हैं। समानता के मानी योग्यता और कीमत में समानता नहीं परन्तु इस बात में कि सबको जीने का और जीवन के लिए आवश्यक चीजों के पाने का समान हक है।

मनुष्यों की समानता के सम्बन्ध में लोगों को उस समय सन्देह हो सकता है, जब ये नवयुवकों के ऊपर विचार करते हैं जिनकी पहले की (भूत-कालिक) अवस्था भिन्न-भिन्न रही है; परन्तु जिस समय मनुष्य छोटे-छोटे बच्चों के ऊपर विचार करता है, तो इस सन्देह के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह जाता। क्या कारण है कि किसी एक बालक की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान रखा जाय, उसकी बड़ी हिफाजत और होशियारी के साथ परवरिश की जाय, और उसे हर तरह की सहायता पहुंचाई जाय, और साथ ही इसके दूसरे बालक को, जो वैसा ही सुन्दर, वैसा ही अथवा उससे अधिक होनहार है, उचित लालन-पालन न होने के कारण क्षीण-काय, और निर्बल होने दिया जाय। उसे काफी दूध भी न मिले, जिससे उसके अंग-प्रत्यंग एवं शरीर का समुचित विकास हो सके। वह मूर्ख और

एक अभ्यास तथा मिथ्या बातों में विश्वास करने वाला और एक भार-वाहक पशु बना रहे। और फिर यह कहा जाय कि इसके भाग्य में ही यह लिखा है ?

इसमें संदेह नहीं कि यदि लोगों ने शहरों का रहना छोड़ दिया है; और जाकर देहात में बस गये हैं, जैसा कि इन लोगों ने किया है, तो इसका कारण केवल यही है कि वे मनुष्य के भाई-चारे (विश्व-बन्धुत्व) के रिश्ते में केवल जबानी नहीं वरन् वास्तविक विश्वास को कार्य-रूप में परिणत करने को तैयार नहीं हैं, तो कम-से-कम अपने जीवन में वे अवश्य उसे कार्य-रूप में देखना चाहते हैं, और उसका उन्होंने श्रीगणेश भी कर दिया है। और यदि उनमें सचाई है, यदि वे जैसा कहते हैं वैसा ही करना चाहते हैं, तो उनके इस विचार पर अमल करने के प्रयत्न का फल यह अवश्य होगा कि वे एक बहुत बड़ी विषम स्थिति में पड़ जायंगे।

क़ायदे से, आराम से और विशेष कर सफाई के साथ रहने की अपनी आदतों के साथ (जो बचपन से पड़ रही हैं) गांवों में पहुंचने पर उन्होंने अपने रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा मोल अथवा किराये पर लेकर उसकी खूब अच्छी तरह सफाई की है, उसमें मुद्दतों से लगे हुए जाले और कीड़ों-मकोड़ों को साफ किया है, अथवा अपने ही हाथों से एक झोंपड़ा तैयार कर लिया है, और उसमें विलासिता नहीं वरन् आवश्यकता की कुछ एक चीजें—जैसे लोहे का पलंग, अलमारी तथा लिखने के लिए मेज इत्यादि रखकर उसे खूब सजाया है। इस प्रकार गांवों में जाकर वे अपना जीवन आरम्भ करते हैं। पहले तो गांव वाले उनसे घृणा करते हैं, यह समझते हैं कि (दूसरे अमीर आदमियों की तरह) वे भी बल-प्रयोग द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे, और इसलिए अपनी-अपनी दर्ख्वास्त और मांगों को लेकर वे उन तक नहीं पहुंचते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में, धीरे-धीरे लोग इन आने वालों के स्वभाव से परिचित हो जाते हैं, वे

(आगन्तुक) लोग स्वयं अपनी ओर से अपनी सेवाएं इन ग्राम्यजनों की भेंट करने लगते हैं, तथा साहसी और निर्भीक ग्राम-वासी थोड़े ही समय में यह मालूम कर लेते हैं कि ये नवागन्तुक किसी बात से इन्कार नहीं करते, बल्कि लोगों को उनसे लाभ पहुंच सकता है।

इसके बाद उनके सामने हर प्रकार की मांगें पेश होने लगती हैं। वे धीरे-धीरे बढ़ती भी रहती हैं। गांव वालों की मांगों की पूर्ति करते-करते वे भी उन्हीं की तरह हो जाते हैं।

भिक्षा-रूप में मांगते-मांगते, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग उनसे बतौर अधिकार के अपनी मांगें पेश करने लगते हैं। लोग चाहते हैं कि नवागन्तुकों के पास दूसरों से जितना अधिक धन है उसे वे उन लोगों में बांट दें। ये नये बसे हुए महानुभाव भी सोचते हैं कि जो लोग अत्यंत दीन और दुःखी हैं उनको वे अपने पास की फालतू चीजें, जिनकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, बांट दें। पर इससे भी उन्हें संतोष नहीं होता। वे तो यह चाहते हैं कि उनके पास भी सिर्फ उतनी ही चीजें बाकी बची रहें जितनी प्रत्येक मनुष्य(अर्थात् सामान्य मनुष्य) के पास होनी चाहिए। पर होता यह है कि एक सामान्य मनुष्य की जरूरतों का एक निश्चित नाप न होने के कारण त्याग की कोई सीमा नहीं रह जाती। क्योंकि हमेशा चारों ओर ग़रीबों की चीख-पुकार मची ही रहती है, और जब इन अतिशय दरिद्र लोगों की दशा से वे अपनी तुलना करते हैं तो वे अपने पास इनकी अपेक्षा अधिक धन देखते हैं।

यह आवश्यक जान पड़ता है कि हर एक आदमी को एक-एक गिलास दूध मिला करे; परन्तु इन दोनों के दो छोटे-छोटे दुध-मुंहे बच्चे हैं, जिनकी मां के स्तनों में दूध नहीं है और एक दो साल का बच्चा है, जो मारे भूख के मृत-प्राय हो रहा है। वे एक गद्दा, तकिया और कम्बल भी रख सकते हैं, जिससे दिन भर के परिश्रम से थक जाने पर रात को आराम से सो सकें। परन्तु उनके सामने एक कोट के ऊपर,

जिसमें जूं और लीखें भरी पड़ी हैं, एक बीमार आदमी पड़ा हुआ है। सिवा चटाई के उसके पास ओढ़ने के लिए कुछ भी नहीं है। इसलिए जाड़े के मारे वह पत्थर हो गया है। इन दोनों के पास चाय और खाने का भी समान है, परन्तु जिस समय उनके पास कोई थका-मांदा बुड्ढा मुसाफिर आ जाता है तो उन्हें वह सब उसे देना पड़ता है। कम-से-कम मकान का साफ-सुथरा रखना भी जरूरी जान पड़ता है; लेकिन भिखारियों के लड़के आते हैं और वहीं पर अपनी रात बिताते हैं, जिससे जुएं और चीलर फिर बढ़ जाते हैं जिनसे अभी मुश्किल में उसे छुटकारा मिल पाया था।

इस त्याग की भी कोई सीमा है? हां, है तो। पर उनके लिए जो या तो इस भ्रातृ-भाव की वास्तविकता से परिचित नहीं हैं, या जो झूठ बोलने के इतने आदी हो गये हैं, कि उन्हें सचाई और झूठ में कोई अन्तर ही नहीं देख पड़ता। सच्ची बात तो यह है कि इस त्याग की कोई सीमा हो भी नहीं सकती। और अगर इसकी कोई सीमा हो भी सकती है तो उससे केवल यह सिद्ध होता है कि जिस भाव से प्रेरित होकर इन लोगों ने यह कार्य आरम्भ किया था वह भाव एक कल्पित अथवा बनावटी भाव था।

मैं आगे बढ़ता हूं और सोचता हूं कि नवागन्तुक और क्या-क्या कर सकते हैं?

तमाम दिन काम करने के बाद वे घर लौटते हैं। कोई बिछौना अथवा तकिया न होने के कारण वे थोड़ी-सी घास डालकर, जिसे उन्होंने इकट्ठा किया है, उस पर पड़े रहते हैं, और थोड़ी-सी रूखी-सूखी रोटी खाकर सो जाते हैं। बरसात के दिन हैं। बड़े जोर के साथ पानी बरस रहा है, कभी-कभी साथ में बर्फ के भी छींटे आ जाते हैं। इतने में कोई आकर दरवाजा खटखटाता है। क्या उस वक्त वे दरवाजा खोलने से इन्कार कर दें? दरवाजा खोलते ही एक आदमी घुस पड़ता है, जो पानी से लथपथ है, और जिसको बड़े जोरों का बुखार चढ़ा हुआ

है। ऐसी दशा में उन्हें क्या करना चाहिए ? क्या सूखी हुई घास उसे दे दें ? अब उनके पास और ज्यादा सूखी घास तो है नहीं। इसलिए वे या तो इस बीमार आदमी को मकान के बाहर कर दें या, यद्यपि वह भीगा हुआ है, उसे जमीन पर लेट जाने दें, अथवा वह पयाल उसे दे दें और खुद उसके साथ में लेट जायं, क्योंकि आदमी के लिए थोड़ा-सा सो लेना जरूरी है।

लेकिन इतने से भी जान नहीं बचती। एक दूसरा आदमी आता है, जो नंबर एक का शराबी और बदमाश है, जिसकी वे कई बार मदद कर चुके हैं, और उसने जो कुछ भी उसे दिया गया सब-का-सब शराबखोरी में उड़ा दिया। इस बार वह दांत कट-कटाता हुआ आता है, और पांच रुपयों के लिए अपना सवाल पेश करता है, वह जिन रुपयों की पूर्ति करना चाहता है, उन्हें उसने चुराकर शराब-खोरी में खर्च कर दिया है और जिनके अदा न कर देने पर उसे जेलखाने का दरवाजा देखना पड़ेगा। वे उत्तर देते हैं कि भई हमारे पास सिर्फ छः रुपये हैं, जो हमें कल एक शख़्स को बाकी के देना है। इस पर वह शराबी कहता है—हां मैं समझता हूं। तुम बातें बनाना ख़ूब जानते हो, लेकिन जब काम की बात आती है, तो तुम भी दूसरों की तरह हो जाते हो। जिस आदमी को तुम अपना 'भाई' कहते हो, उसे मर जाने देना तुम पसन्द करते हो, लेकिन खुद तकलीफ उठाना नहीं चाहते।

ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? उस ज्वर-ग्रस्त मनुष्य को गीली जमीन पर लेट जाने दें और खुद सूखी जमीन और घास पर लेटें ? ऐसा करने पर तो और भी नींद नहीं आवेगी। यदि आप उसे अपनी सूखी घास पर लिटा दें और उसके पास ही एक ओर लेट जायं तो आपको भी बुखार आ जायगा और आपके भी जूं पड़ जायंगे। अगर आप अपने बचे हुए पांचों रुपये उस मांगने वाले को दें तो आपके पास दूसरे दिन के खाने का भी ठिकाना न रहेगा। पर इन्कार कर देने का अर्थ, जैसा कि उसने बतलाया है, उन बातों से मुंह मोड़

लेना होगा, जिनके लिए मनुष्य जी रहा है।

यदि आप अपनी उदारता का अन्त यहां कर सकते हैं, तो आप इससे पहले ऐसा क्यों नहीं कर सकते थे? आपको लोगों की मदद करने की ही क्या जरूरत है? आप अपनी जायदाद और शहर क्यों छोड़ते हैं? त्याग की सीमा कहां है? यदि जो काम आप कर रहे हैं, उसकी कोई हद है; तो इन सारी बातों का कोई अर्थ ही नहीं है, अथवा यदि कोई अर्थ है तो वह ढोंग के सिवा और कुछ भी नहीं।

ऐसी दशा में कैसा आचरण किया जाय? किन उपायों को काम में लाया जाय? पीछे पैर न हटाने का मतलब है जिंदगी से हाथ धो बैठना, अपने बदन को जूं और चीलरों की खुराक बना देना; भूखों मर जाना और प्राण दे देना और वह भी—जैसा कि साफ जाहिर है–व्यर्थ में–बिना किसी प्रयोजन के। रुकजाना, उन बातों से मुंह मोड़ लेना है जिनकी खातिर इतना सब-कुछ किया है। इसके अलावा इससे मुंह मोड़ना कठिन है। क्योंकि यह मेरी अथवा महात्मा ईसा-मसीह की आविष्कृत बात नहीं है कि हम लोग भाई-भाई हैं और इसलिए हमें एक दूसरे की सेवा अवश्य करनी चाहिए। यह एक असलियत है। और जब इसने एक बार प्रवेश कर लिया तो फिर आप इस भावना को मनुष्य के हृदय से अलग नहीं कर सकते। तो फिर क्या उपाय किया जाय? क्या इससे छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं है?

मान लीजिए, कि इन लोगों ने उस त्याग की आवश्यकता से लेश-मात्र भी भयभीत न होकर, जिसने उन्हें ऐसी स्थिति में डाल दिया है जहां पर उनकी मृत्यु अनिवार्य है, यह निर्णय किया कि ऐसी स्थिति केवल इसलिए उत्पन्न हुई कि हम लोग अपर्याप्त साधनों अर्थात् बहुत थोड़े धन के साथ इन ग्रामीण जनों की सहायता करने आये थे, और यह कि यदि हमारे पास अधिक रुपया होता तो इसका परिणाम इससे भिन्न हुआ होता और हमने इससे कहीं अधिक उनका उपकार किया होता। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि उन्हें अधिक धन

मिल जाता है। वे बहुत-सा रुपया इकट्ठा कर लेते हैं, और तब लोगों की सहायता करना आरम्भ करते हैं। थोड़े दिनों के भीतर फिर वही बात होने लगेगी जो पहले होती थी। बात की बात में वह सारा माल-खजाना, फिर वह चाहे कितना ही क्यों न हो, उन गढ़ों में भर जायगा जो दरिद्रता ने समाज के अन्दर कर दिये हैं, और स्थिति वैसी ही बनी रहेगी जैसी कि पहले थी।

लेकिन शायद इसका कोई तीसरा रास्ता भी हो? कुछ लोगों का कहना है कि जन-साधारण में जागृति उत्पन्न की जाय, इससे विषमता (असमानता) दूर हो जायगी।

परन्तु यह भी साफ तौर से पाखण्ड है; आप किसी ऐसे समाज में जागृति उत्पन्न नहीं कर सकते जो निरंतर फाके-कशी और दारिद्रय के कारण मृत-प्राय हो रहा है और इसके सिवा जो लोग इसका प्रचार करते हैं उनका ढोंगीपन सिर्फ इसी एक बात से जाहिर है कि, जो मनुष्य लोगों में समानता स्थापित करने के लिए उत्सुक हैं (चाहे वह विज्ञान के द्वारा ही क्यों न हो) वह ऐसा जीवन पसन्द न करेगा जिसकी हर एक बात इस असमानता का समर्थन करती हो।

पर तो भी एक चौथा मार्ग शेष है, अर्थात् उन कारणों को मिटाने में सहायता करना जो इस असमानता (विषमावस्था) के जन्मदाता हैं—पशु-बल के नष्ट करने में सहायता करना जो इस भीषण अवस्था का उत्पादक (उत्पन्न करने वाला) है।

यह कार्य—मार्ग उन सभी मनुष्यों के दृष्टि-गोचर अवश्य होगा जिनके अन्दर सच्चाई है और जो अपने जीवन में मनुष्यों के भ्रातृ-भाव सम्बन्धी अपने विचारों को कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न करते हैं।

जिन लोगों का चित्र मैंने आप लोगों के सामने खींचा है, वे यह कहेंगे कि—"यदि हम गांव में इन लोगों के बीच में नहीं रह सकते; यदि हम ऐसी भयंकर स्थिति में पड़ गये हैं कि हमारे लिए भूखों मर जाना, जुओं और चीलरों से अपना तमाम बदन खिलवा देना और

इस प्रकार धीरे-धीरे घुल-घुल कर मर जाना, अथवा उस बात से जो हमारे जीवन का एक-मात्र नैतिक आधार है, मुंह मोड़ लेना आवश्यक हो गया है, तो इसका कारण यह है कि कुछ लोगों ने बहुत-सा धन एकत्र कर लिया है जब कि दूसरों के पास खाने भर को भी ठिकाना नहीं है ! इस असमानता (Unequality) का आधार पशु-बल है, और चूंकि इस मामले की जड़ पशु-बल है, हमें पशु-बल के ही विरुद्ध लड़ाई लड़नी चाहिए।"

केवल पशु-बल तथा उससे उत्पन्न होनेवाली दासता का अन्त कर देने से ही मनुष्य ऐसी सेवा कर सकता है जिसमें उसे अपना जीवन-त्याग ही करने की आवश्यकता उत्पन्न न हो।

लेकिन इस पशु-बल का अन्त किस प्रकार किया जाय? वह कहां है फौज के सिपाहियों में, पुलिस में, राज्य के कर्मचारियों में और उस ताले में जो मेरे दरवाजे के ऊपर लटक रहा है। इसके विरुद्ध मैं संग्राम किस प्रकार कर सकता हूं ? कहां, और किस बात में ?

यहीं पर हम देखते हैं कि क्रान्तिवादी लोग, जो इस पशु-बल के सहारे अपने जीवन की रक्षा कर रहे हैं, इस पशु-बल के विरुद्ध लड़ाई लड़ते हैं, हिंसा से हिंसा का मुकाबला करते हैं।

लेकिन एक ऐसे आदमी के लिए, जिसके अन्दर सचाई है, यह असम्भव है। पशु-बल से पशु-बल के साथ युद्ध करने का अर्थ है पुरानी हिंसा के स्थान में नई हिंसा को जन्म देना। उस संस्कृति (Culture) की सहायता लेना भी जिसका आधार पशु-बल के ऊपर है, वैसा ही है। हिंसा (बल-प्रयोग) से प्राप्त होने वाले धन एकत्र करने और उसका उन लोगों की सहायता करने में व्यय करने का जिनकी दरिद्रता का कारण भी पशु-बल ही है, अर्थ होगा हिंसा से पैदा हुए घाव को हिंसा से ही भरना।

उस दशा में भी, जिसकी मैंने कल्पना की है, एक बीमार आदमी को अपने मकान में न आने देना और अपने बिस्तरे पर न लेटने देना

और रुपए देने में इसलिए इन्कार कर देना कि मैं पशु-बल की सहायता से ऐसा कर सकता हूं, भी जोर-जुल्म का इस्तेमाल करना है। इसलिए हमारे समाज में, उस मनुष्य के लिए जो भ्रातृ-भाव के साथ रहना चाहता है, पशु-बल के विरुद्ध की जानेवाली लड़ाई को अपना जीवन हवाले कर देने, जुएं और चीलरों से अपना बदन खिलवा देने और अपना प्राण त्याग कर देने की आवश्यकता दूर नहीं हो जाती, वरन् इसीके साथ-साथ हमेशा इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि हिंसा (बल-प्रयोग) के विरुद्ध लड़ाई की जाती रहे, विरोध न करने की शिक्षा दी जाती रहे, हिंसा का रहस्योद्घाटन (पर्दा फाश) किया जाता रहे, और इन सब के अलावा, अविरोध तथा आत्म-बलिदान के आदर्श का उदाहरण पेश किया जाता रहे।

चूंकि ईसाई-धर्म की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य की स्थिति हिंसा-मय जीवन में बड़ी ही भयंकर और कठिन हो जाती है, इसलिए उसके लिए निरन्तर संग्राम और बलिदान के अतिरिक्त ऐसा बलिदान जिसका कोई अन्त ही नहीं है—अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

जो खाड़ी करोड़ों भूखों मरने वाले दीन-दुःखी लोगों को उन अमीरों से अलग करती है जिनके पास असंख्य धन भरा पड़ा है, उसका ज्ञान लेना परमावश्यक है; और उस खाड़ी को भरने के लिए हमें उस ढोंग और झूठे आडम्बर की नहीं, जिससे कि हम इस खाड़ी की गहराई को अपने-आपसे भी छिपाने की कोशिश करते हैं, वरन् बलिदान की आवश्यकता है।

यह सम्भव है किसी मनुष्य में इस खाड़ी में कूद पड़ने की ताकत न हो; लेकिन जो मनुष्य जीवन-सम्बन्धी बातों की खोज करता है वह इससे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। यह दूसरी बात है कि हम उसमें घुसने के लिए राजी न हों, परन्तु हमें इस सम्बन्ध में हमेशा ईमानदारी से काम लेना चाहिए; झूठे हीलों-हवालों से अपने-आपको

शिक्षा देने की जरूरत नहीं है।

अन्त में, यह खाड़ी इतनी भयंकर नहीं है जितनी कि वह दिखाई पड़ती है। अथवा, यदि वह भयंकर हो भी तो जिन खतरों का हमें अपने इस सांसारिक जीवन में मुकाबला करना है वे और भी ज्यादा खौफनाक (भयंकर) हैं।

जुंओं-चीलरों, छूत से किसी दूसरे की बीमारी के दौड़कर लग जाने, अथवा दूसरों की मदद के लिए अपना बचा-खुचा धन दे देने के बाद हो जाने वाली गरीबी से मौत का जितना भय है, वह उस भय से कहीं कम है जो फौजों की चढ़ाइयों अथवा लड़ाई में मार डाले जाने में है।

जुंओं-चीलरों, मैली-कुचैली रोटी, और दरिद्रता बड़े ही भयंकर हैं; परन्तु फिर भी दरिद्रता का गड्ढा इतना गहरा नहीं है, किन्तु हमारी दशा प्रायः उस बालक की-सी हो जाती है जो गहराई और उस पानी के भय से तमाम रात मारे डर के उस कुएं के किनारे चिपटा रहा जिसमें वह पैर फिसल जाने के कारण लड़खड़ा गया था, जब कि सिर्फ एक फुट नीचे की तरफ उस कुएं की तह में सब जमीन सूखी हुई थी।

पर हमें तो उस तह पर भी भरोसा न करना चाहिए; हमें तो मरने के लिए तैयार होकर आगे बढ़ना चाहिए। केवल वही प्रेम सच्चा है जिसमें बलिदान की कोई सीमा नहीं है—जिसमें मृत्यु तक का भी कोई भय नहीं।

: ३ :

बुद्धि और प्रेम

यदि मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह उसके बतलाये हुए काम को करे। उसका बतलाया हुआ काम करने के लिए दो बातों की—अलग-अलग नहीं बल्कि मिलाकर काम करने की आवश्यकता है, अर्थात् बुद्धि प्रेम करने वाली हो, यानी उसका ध्येय प्रेम हो; और यह कि प्रेम बुद्धि-युक्त हो, अर्थात् वह बुद्धि के विरुद्ध न हो।

पहले नियम का उल्लंघन करने का परिणाम होता है बुद्धि का वैज्ञानिक खोज में लग जाना नक्षत्रों के मार्ग का, तत्त्व-विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, कला-विज्ञान आदि का अन्वेषण। दूसरे का उदाहरण है एक-मात्र प्रेम, अर्थात् किसी स्त्री का, किसी के अपने बच्चे का, अपने देश और जाति का प्रेम—ऐसा प्रेम जिसका उद्देश्य कल्याण नहीं वरन् पाशविक वृत्तियों की तृप्ति है।

बुद्धि का काम है सत्य की खोज। प्रेम का काम है न्याय का दर्शन। परन्तु इसलिए कि ठीक फल की प्राप्ति हो, यह आवश्यक है कि इन दोनों का प्रयोग एक साथ किया जाय।

न्याय की उत्पत्ति केवल उसी समय हो सकती है जब प्रेम बुद्धि-युक्त हो; और सत्य की कसौटी पर वह कस लिया गया हो; और सत्य की उत्पत्ति सिर्फ उसी समय होती है जब बुद्धि प्रेम-युक्त हो, उसका लक्ष्य न्याय हो।

यह सब मेरी गढंत नहीं है; यह वही है जो-कुछ मैंने देखा है ।

× × × ×

मिल् का कहना है—"जिस समय प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत भलाई तथा सुख हो—उसे उन नियमों और शर्तों का भी ध्यान रखना चाहिए, जो दूसरे लोगों की भलाई के लिए आवश्यक हैं—उस हालत में मानव-समाज को उस समय की अपेक्षा अधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है जब उसका एक-मात्र लक्ष्य अपने को छोड़ शेष अन्य लोगों की भलाई हो।"

यह सच है; लेकिन केवल उसी समय, जब किसी व्यक्ति की भलाई से तात्पर्य उसके आध्यात्मिक कल्याण (भलाई) से अर्थात् ईश्वर की आज्ञानुसार, अथवा अपने अन्तःकरण (बुद्धि और प्रेम) के अनुसार कार्य करने से है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के साम्राज्य तथा उसके सत्य की खोज करे, और इसी में अपने जीवन को लगा दे। उस समय सारे मानव-समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकेगा। परन्तु उस समय सिद्ध होगा कि मनुष्य की भलाई उन नियमों और शर्तों के पालन करने में है जिनसे सर्व-साधारण की भलाई होती हो—अर्थात् ठीक वही बात होगी, जिसका मिल् साहब खण्डन करते हैं।

: ४ :

चमत्कार और चमत्कार-कर्त्ता

कल मैंने आपको यह लिखना आरम्भ किया था कि मुझे ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि जो लोग इस भौतिक संसार की सत्यता में विश्वास करते हैं वे दिव्य-शक्ति में भी विश्वास करते हैं, अथवा यह कि जो लोग आध्यात्मिक जीवन में, अपने पारलौकिक अस्तित्व में तथा एक निराकार ईश्वर में विश्वास करते हैं, वे इस दिव्य-शक्ति में विश्वास नहीं कर सकते। परन्तु उस समय मैंने अपने उस लेख को समाप्त नहीं किया था। उस समय मैंने जो कुछ सोचा था वह यह है—

मेरा विश्वास है, अथवा मैं निश्चय रूप से जानता हूं कि यह सारा भौतिक संसार मेरी पांच ज्ञानेन्द्रियों का विकार-मात्र है, और इस भौतिक संसार के समस्त नियम मेरी इन पांचों इन्द्रियों के पारस्परिक संसर्ग सम्बन्धी नियम हैं। सम्पूर्ण विज्ञान और हमारा सम्पूर्ण ज्ञान हमारी इन इन्द्रियों के बीच के विविध संबंधों के प्रतिफल मात्र हैं। उदाहरणार्थ, बर्फ, जो हमारी स्पर्शेन्द्रिय को कठोर (सख्त) प्रतीत होती है, थोड़ी-सी गर्मी पाते ही गलकर एक द्रव-पदार्थ (जल) में परिणत हो जाती है जिसका भी ज्ञान हमारी इन्द्रियों को होता है; और इसके बाद थोड़ी-सी और गर्मी पहुंचने पर वह अस्पृश्य वाष्प (भाप) रूप में परिणत हो जाती है। हमारा सारा ज्ञान, हमारी इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध का ऐसा ही अनुसन्धान है। हमने इन सम्बन्धों का अध्ययन किया है और हम उन्हें जानते हैं। हम जानते हैं

कि हमारी एक भी इन्द्रिय के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उसके साथ दूसरी इन्द्रियों के लिए कोई-न-कोई अलौकिक दृश्य अवश्य उत्पन्न हो जाता है। यदि हमें खटखटाने का शब्द सुनाई पड़ता है, तो इससे हमारी स्पर्शेन्द्रिय को किसी कठोर वस्तु का बोध होता है, और ऐसा ही दूसरी इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है।

तो फिर बाह्य संसार के इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार दिव्य-कर्म का क्या अर्थ होता है? केवल यही कि इन्द्रियों का व्यतिषंग (पारस्परिक संबंध), जिसका हमने अध्ययन किया है और जिसे स्थायी समझ लिया है, एकबारगी बदल जाता है। ऐसे सम्बन्ध का परिवर्तन केवल इसीलिए हो जाता है कि मैंने इन्द्रियों के इस सम्बन्ध का गलत निरूपण किया है, और इसलिए मुझे इन इन्द्रियों के सही और स्थायी सम्बन्ध की खोज करने की आवश्यकता है; अथवा इसलिए कि मेरी किसी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो गया है (व्यामोह हो गया है)। परन्तु संसार के सम्बन्ध में इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार दिव्य-कर्म (अलौकिकता) का कोई अस्तित्त्व में ऐसा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य किसी अलौकिक (दिव्य) कर्म को देखे, तो उसे यह निश्चय हो जायगा कि वह अस्वस्थ है, उसकी इन्द्रियां नियमित रूप से काम नहीं कर रही हैं, और उसे अपना इलाज करने की जरूरत है।

परन्तु अध्यात्म-लोक (Spiritual Region) में ऐसे मनुष्य के लिए कोई दिव्य (अलौकिक) कर्म हो ही नहीं सकता। क्योंकि अध्यात्म-जीवन ऐसे किसी भी नियम (कानून) का अनुवर्ती नहीं हो सकता, और इसके सम्बन्ध में हम इसके सिवा और कुछ भी नहीं जानते कि वह पहले था, अभी है और आगे हमेशा रहेगा भी, क्योंकि इसके लिए न कोई विशेष समय है और न स्थान।

मसीह (Christ) फिर से उठ खड़ा हुआ इसका अर्थ यह निकलता है कि जिन लोगों के सामने वह उठता हुआ दिखाई दिया

उनकी इन्द्रियों ने नियमित रूप से अपना कार्य नहीं किया, किन्तु उन्होंने इन्द्रियों के उस सम्बन्ध के विरुद्ध कार्य किया जिनका सदैव प्रत्यावर्तन होता रहता है, और इसलिए इन मनुष्यों की असभ्यावस्था पर केवल दया आती है।

परन्तु यह कहना कि मसीह आत्मा के रूप में मनुष्य के अन्दर रहते हैं और यह कि हम दूसरों में और दूसरे हममें रहते हैं, उस सामान्य अटल सत्य को प्रकट करना है जो प्रत्येक ऐसे मनुष्य की समझ में आ सकता है जो ब्रह्म में रहता है।

यही बात है जो मैं कहना चाहता था।

आत्मा के विषय में हमने और क्या समझा है? यह कि इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भूतों के संसर्ग से हमने यह सीखा है कि एक और ऐसा तत्त्व विद्यमान है जिसे हम देख-सुन नहीं सकते पर जो है जरूर। हम उसके अस्तित्त्व से इन्कार नहीं कर सकते। यह बात यहां तक सत्य है कि इस अस्तित्त्व को स्वीकार किये बिना हम किसी भी अन्य वस्तु के अस्तित्त्व का निरूपण नहीं कर सकते (उदाहरणार्थ, आकाश, जिसके मुक्त स्फुरणों से प्रकाश, गर्मी, विद्युत् आदि ज्ञान हमको अपनी इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु जिसके अस्तित्त्व को हम स्वीकार करते हैं, इसलिए नहीं कि हमारी पांच इन्द्रियों में से किसी एक ने अपने नियमों का उल्लंघन करके हमें उसका ज्ञान कराया है जिसको हमने मान लिया है और स्वीकार कर लिया है, किन्तु इसके विपरीत, इसलिए कि इसकी सत्ता का ज्ञान हमको विवेक-बुद्धि के द्वारा हुआ है) और इस बात के स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होता है कि इससे उस संबंध के नियमों का, जिसे हमने मान लिया है, उल्लंघन नहीं होता उलटा उस संबंध में और भी अधिक उचित दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है।

युद्ध

१. युद्ध के कारण

२. दो युद्ध

३. कोई फौज में भर्ती न हो

४. कुछ चुनी हुई बातें

: १ :

युद्ध के कारण

मैं उन लोगों से सहमत नहीं हो सकता जो वर्तमान युद्ध का कारण राजनीतिक नेताओं को बतलाते हैं।

यदि दो आदमी किसी शराबखाने में जाकर खूब शराब पी लें और फिर जब ताश खेलने लगें तो आपस में लड़ने लगें, तो मैं उनमें से किसी एक को ही अपराधी न मानूंगा, चाहे दूसरे आदमी की दलीलें कितनी ही माकूल क्यों न हों। उनके इस प्रकार लड़ने-झगड़ने का कारण यह नहीं है कि उनमें से एक सही रास्ते पर है; किन्तु इसका कारण यह है कि शान्ति के साथ काम करने और आराम के साथ बैठने के बदले उन्होंने शराबखाने में जाकर शराब पीना और ताश खेलना ज्यादा पसन्द किया।

ठीक इसी प्रकार जब मुझसे यह कहा जाता है कि किसी एक लड़ाई में, जो छिड़ गई है, केवल एक ही पक्ष वाले दोषी हैं, तो मैं इस बात से कभी सहमत नहीं हो सकता। यह बात मान ली जा सकती है कि एक पक्ष वालों का व्यवहार दूसरे पक्षवालों के व्यवहार (बर्ताव) से अधिक खराब हो। लेकिन इस बात की जांच (तहकीकात) करने से, कि किस पक्ष वालों का व्यवहार अधिक खराब है, उस कारण का ठीक-ठीक पता न लगेगा जिसकी वजह से युद्ध (लड़ाई) जैसी भयंकर, निर्दयतापूर्ण और अमानुषिक घटना हो रही है।

किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए जो कि अपनी आंखें बन्द नहीं कर

लेता है इस वर्तमान तथा उन दूसरे युद्धों के, जो अभी हाल में हो गये हैं, वास्तविक कारण बिलकुल स्पष्ट हैं। इन कारणों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। प्रथम, सम्पत्ति का विषम-विभाग, अर्थात् एक मनुष्य-समाज का दूसरे मनुष्य-समाज द्वारा लूटा जाना। दूसरे सैनिक वर्ग के लोगों का होना जिसकी शिक्षा और नियुक्ति मनुष्यों का बध करने के लिए होती है। तीसरे, गलत और धोखे में डालने वाली धार्मिक शिक्षा का होना जो इस समय हमारे नवयुवकों को दी जाती है। इसलिए मैं समझता हूं चैम्बरलेन, विलियम कैसर तथा ऐसे ही अन्य किसी व्यक्ति को लड़ाइयों का कारण बतलाना व्यर्थ ही नहीं वरन् हानिकर भी है। ऐसा करने से लोग उन कारणों को नहीं देख पाते जो बहुत निकट हैं और जिनमें हम सब लोग हिस्सा ले रहे हैं। हम चैम्बरलेनों और कैसरों के ऊपर क्रोध कर उन्हें उलटी-सीधी गालियां सुना सकते हैं; परन्तु हमारे इस क्रोध करने और गालियां देने से कोई लाभ न होगा; क्योंकि चैम्बरलेन और कैसर उन शक्तियों के केवल अंधे औजार मात्र हैं, जो उन युद्धों का असली कारण हैं। ये जो कुछ भी करते हैं, वह करने के लिए वे मजबूर किये जाते हैं, और उन शक्तियों के विरुद्ध वे कुछ भी नहीं कर सकते। सारा इतिहास राजनीतिज्ञों की कारगुजारियों से भरा पड़ा है—जो ठीक वैसी ही हैं जो ट्रांसवाल-युद्ध के पहले हुई थीं; और इसलिए ऐसे लोगों से नाराज होना और उनको दोष देना बिलकुल व्यर्थ वरन् असम्भव भी है। जब मनुष्य उनके इस व्यवहार के सच्चे कारणों को देखता है, और जब वह ऊपर बतलाये हुए तीन मूल कारणों के साथ अपने सम्बन्ध पर विचार करता है तो किसी-न-किसी रूप में वह अपने-आपको भी उसका दोषभागी पाता है।

जबतक हम लोग विशेष धन का उपभोग करते रहेंगे और अधिक संख्या में लोग परिश्रम के भार से पिसते रहेंगे, तबतक कारखानों में बने माल के लिए बाजार ढूंढने तथा सोने की खानों आदि के लिए

बराबर युद्ध होते ही रहेंगे, जिनकी हमें अपने इस विशेष धन की रक्षा के लिए आवश्यकता है। पर लड़ाइयां तबतक भी अनिवार्य रहेंगी जबतक हम सैनिक-संगठन में भाग लेते रहेंगे, उनका अस्तित्व बनाये रहेंगे, और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध न करने लग जायेंगे। हम लोग या तो स्वयं फौज में भर्ती हो जाते हैं या उसे आवश्यक ही नहीं वरन् प्रशंसनीय भी समझते हैं; और इसके बाद जब युद्ध छिड़ जाता है, तो हम इसके लिए किसी-न-किसी राजनीतिक नेता (लीडर) को उत्तरदायी ठहराने और उसे दोषी बतलाने लगते हैं। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी लड़ाई का अस्तित्व उस समय तक बना ही रहेगा, जबतक हम केवल मानते ही नहीं वरन् बिना किसी क्रोध अथवा द्वेष के उस विकृत धर्म को सहन करते रहेंगे जिसके अनुसार सेना, शस्त्रों की पूजा करना और धर्म-युद्ध का मानना जैसी बातें ग्राह्य समझी जाती रहेंगी। हम अपने बच्चों को इसी धर्म की शिक्षा देते हैं, हम स्वयं भी उसे मानते हैं और फिर इसके बाद हममें से कोई तो कहता है कि हम लोगों ने जो मनुष्यों की हत्या की है उसके लिए चैम्बरलेन दोषी हैं, कोई कहता है कि इसका दोष क्रूगर के ऊपर है।

यही कारण है कि मैं तुमसे क्यों सहमत नहीं हो सकता और अशान्ति तथा बुराई के इन अन्धे औजारों को दोषी क्यों नहीं ठहरा सकता। मैं तो युद्ध का कारण उस बात में देखता हूं जिसे बढ़ाने या घटाने में मैं सहायक हो रहा हूं। इसलिए युद्ध के सच्चे विरोधी को चाहिए कि वह सम्पत्ति के समान बंटवारे में भाग ले, उन विशेषाधि-कारों से, जो कि उसे प्राप्त हैं, कम-से-कम लाभ उठावे, किसी भी प्रकार के सैनिक-कार्य में भाग लेने से अलग रहे; उस जादू को मिटा दे जिसके कारण मनुष्य हत्यारे बनकर सेना में काम करते हैं, और यह सोचते रहते हैं कि वे सेना में भर्ती होकर बड़ा अच्छा कार्य कर रहे हैं और इन सबके अलावा उसे चाहिए कि वह बुद्धिपूर्वक धर्म का

पालन करे, तथा अपनी सारी शक्ति के साथ मिथ्या धर्म के क्रूरतापूर्ण कपट-जाल को नष्ट करे, जिसकी शिक्षा युवकों को जबरदस्ती दी जा रही है। इस कार्य का करना, जैसा कि मुझे ज्ञात होता है, प्रत्येक ऐसे मनुष्य का धर्म है जो सत्य की उपासना करना चाहता है, और जिसकी आत्मा को वर्तमान भयंकर युद्ध से सचमुच चोट पहुंची है।

: २ :

दो युद्ध

ईसाई-संसार इस समय दो महायुद्धों की रण-भूमि हो रहा है। एक समाप्त हो चुका है और दूसरा अभी जारी है; परन्तु कुछ समय तक वे एक साथ ही चलते रहे थे और इन दोनों में जो अंतर है वह बड़ा ही चित्ताकर्षक है। पहला—स्पेन-अमेरिका-युद्ध—एक पुरानी, व्यर्थ की, मूर्खतापूर्ण और क्रूरता की लड़ाई थी, जो बिलकुल बे-मौका, और काफिरों की लड़ाई थी जिसकी मंशा एक मनुष्य-समाज का वध कर इस प्रश्न को हल करना था कि दूसरे मनुष्य-समाज का किस प्रकार और किसके द्वारा शासन किया जाय। दूसरी लड़ाई, जो अब भी जारी है और जिसका अन्त केवल उसी समय होगा जब संसार से युद्ध का अन्त हो जायगा, एक नई, आत्म-बलिदान की और पवित्र धार्मिक लड़ाई है जिसका आधार बुद्धि और प्रेम है, और जिसकी घोषणा (जैसा कि विक्टर ह्यूगो ने एक महासभा (कांग्रेस) के अवसर पर कहा है) एक उच्च विचार वाले और समुन्नत—ईसाई—मनुष्य-समाज ने दूसरे, मूर्ख और असभ्य समाज के विरुद्ध की है। यह लड़ाई अभी हाल एक मुट्ठी-भर ईसाइयों—काकेशस के डूखोबर लोगों—ने शक्तिशाली रूसी सरकार के विरुद्ध बड़े साहस और सफलता के साथ छेड़ी है।

अभी उस दिन मुझे कोलार्डो से एक सज्जन जेसी ग्लाडविन—का एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने मुझे "अमेरिका राष्ट्र के इस

"धर्म-कार्य तथा सिपाहियों और नाविकों की वीरता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिए" लिखा है। अधिकांश अमेरिका निवासियों के साथ-साथ इन महाशय का भी पूर्ण विश्वास है कि अमेरिका-निवासियों का यह कार्य लगभग लाखों निःशस्त्र मनुष्यों का (क्योंकि अमेरिकनों के साज व सामान के देखते हुए स्पेन वाले लगभग बिना शस्त्र के ही थे) वध करना निस्सन्देह एक "धर्म-कार्य" था; और वह उन बहु-संख्यक मनुष्यों को, जो अपने लाखों-करोड़ों भाइयों का वध कर चुकने के बाद सलामत और जिन्दा बच रहे हैं, और जिन्होंने अपने लिए प्रचुर धन-धान्य और सुविधाओं का प्रबन्ध कर लिया है, वीर समझते हैं।

स्पेन-अमेरिका युद्ध—उन अत्याचारों का विचार न करते हुए जो स्पेन वालों ने क्यूबा में किये हैं, और जो इस युद्ध के लिए एक बहाना मिल गया—बिलकुल इस प्रकार का है—एक वृद्ध मनुष्य, जो निर्बल और बालक जैसा है, और जिसका लालन-पालन एक झूठे सम्मान और गुरुता के वायु-मंडल में हुआ है, किसी गलत-फहमी का निपटारा करने के लिए एक युवा मनुष्य को, जो अपनी पूरी ताकत में भरा हुआ है, मल्ल-युद्ध करने को ललकारता है। और यह युवा पुरुष, जिसे अपनी पहले की कुछ बातों तथा अपने विचारों के कारण इस निपटारे के सवाल से बिलकुल दूर ही रहना ठीक था, इस मुकाबिले के लिए तैयार हो जाता है। और इसके बाद एक डंडा लेकर वह युवा पुरुष उस कमजोर बुड्ढे आदमी के ऊपर टूट पड़ता है, ठोकरों से मारकर उसको गिरा देता है, उसके दांत और पसलियां तोड़ डालता है, और फिर इसके बाद अपने ही जैसे युवा पुरुषों की एक बड़ी भीड़ के सामने जो खड़ी हुई इस दृश्य को देख रही थी; अपनी इस वीरता का बखान करता है और वे लोग इस बार के कार्य की प्रशंसा करते हैं जिसने इस प्रकार एक वृद्ध परुष को घायल कर डाला, और उस पर हर्ष प्रकट करते हैं।

पहली लड़ाई इस प्रकार की है जिसकी समस्त ईसाई-संसार के अन्दर चर्चा हो रही है। दूसरी लड़ाई के सम्बन्ध में कोई भी कुछ नहीं कहता; उसके बारे में मुश्किल से लोगों को कुछ मालूम है।

इस दूसरी लड़ाई का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है:—प्रत्येक राष्ट्र अपने शासकों द्वारा एक बहुत बड़े भ्रम में डाल रखा गया है। वे कहते हैं—"तुम लोग, जिनके ऊपर हम शासन करते हैं, हमेशा इस खतरे में रहते हो कि कहीं दूसरे राष्ट्र तुम पर हमला कर तुम्हें अपने अधीन न कर लें; हम तुम्हारी सुख-समृद्धि तथा तुम्हारी रक्षा का ध्यान रखते हैं, और इसलिए हम तुमसे कुछ करोड़ रुपये सालाना मांगते हैं—जो तुम्हारे परिश्रम का फल है और जिसको हम तुम्हारी रक्षा के लिए सेना रखने, तोप-बन्दूकें, गोला-बारूद और जहाज खरीदने में व्यय करेंगे। हम यह भी चाहते हैं कि तुम स्वयं भी उन संस्थाओं में जाओ जो हमने संगठित और निर्माण की हैं। वहां पर तुम एक बहुत बड़ी मशीन-फौज के, जिस पर हमारा पूर्ण अधिकार और नियंत्रण होगा, बेजान और बेहोश पुर्जे बन जाओगे। इस फौज में भर्ती होने पर तुम अपनी इच्छा के अनुसार काम करने वाले मनुष्य न रह जाओगे, तुमको सिर्फ वही काम करना होगा जो हम तुमसे करने के लिए कहेंगे परन्तु हम जो कुछ चाहते हैं, वह है शासन करना; इस शासन का साधक है, हत्या (वध करना) और इसलिए हम तुम्हें हत्या करना सिखलायेंगे।"

एक राष्ट्र से कहा जाता है कि तुम खतरे में हो, दूसरा राष्ट्र तुम पर चढ़ाई करने वाला है, दूसरे राष्ट्र के शासक भी उसे समझते हैं कि तुम भी खतरे में हो पहला राष्ट्र तुम पर चढ़ाई करेगा। इस प्रकार परस्पर शान्ति से रहने की इच्छा होने पर भी राष्ट्र मतलबी शासकों द्वारा एक-दूसरे से लड़ाये जाते हैं और लोग उनके इस कपट-जाल में फंस जाते हैं, अपना रुपया अपने को ही गुलाम बनाये जाने में व्यय करने

के लिए दे देते हैं, और स्वयं दूसरों को गुलाम बनाने में सहायक होते हैं।

लेकिन अब लोग आते हैं और कहते हैं—"जो कुछ भी तुम उस डरावने खतरे के बारे में कहते हो यह सब तुम्हारा कपट-जाल है। यह भी झूठ है कि उससे तुम हमारी रक्षा करते हो, सारे राज्य हमको इस बात का निश्चय दिलाते हैं कि वे शान्ति चाहते हैं और फिर भी वे सब एक-दूसरे के विरुद्ध शस्त्र-संग्रह कर रहे हैं। इसके अलावा उस कानून के अनुसार, जिसे तुम स्वयं भी मानते हो, सब मनुष्य भाई-भाई हैं, और इसलिए चाहे कोई मनुष्य इस राज्य का हो अथवा किसी दूसरे राज्य का इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; इसलिए दूसरे राष्ट्रों द्वारा हमारे ऊपर आक्रमण वाली बात से हम नहीं डरेंगे, हम उसे कुछ भी महत्त्व नहीं देते। परन्तु आवश्यक बात तो यह है कि जो कानून हमें ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ है और जिसे तुम लोग भी, जो हमसे हत्या के कामों में हिस्सा लेने को कहते हो, स्वीकार करते हो, उसमें केवल हत्या करने की ही नहीं वरन् हर तरह के बल-प्रयोग (हिंसा) की भी मुमानियत की गई है। इसलिए हम तुम्हारी इस हत्या करने की तैयारी में कोई हिस्सा नहीं ले सकते, और न लेंगे। हम इस काम के लिए धन न देंगे, और हम मनुष्यों के मस्तिष्क और अन्तःकरण को दूषित करने तथा उन्हें किसी भी दुष्ट-हृदय मनुष्य के, जो उनका प्रयोग करना चाहते हैं, आज्ञानुवर्ती बल-प्रयोग के यंत्र बनाने के उद्देश्य से की गई सभाओं में उपस्थित न होंगे।"

दूसरी लड़ाई इस प्रकार की है। यह लड़ाई बहुत समय से संसार के सर्वोत्कृष्ट मनुष्य-समाज और पशु-बल के पुजारियों में होती चली आई है और अभी हाल में भी इसने डूखोबरों (ईसाइयों का एक सम्प्रदाय) और रूसी सरकार के बीच भयंकर रूप धारण कर लिया है। रूसी सरकार ने उन सभी अस्त्रों का प्रयोग कर डाला है जो उसके हाथ में थे। गिरफ्तारियां करने के लिए लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने

से रोकने के लिए, लोगों के पारस्परिक समागम को बन्द करने के लिए पुलिस का काम में लाना, पत्रों (चिट्ठियों) का पकड़ना, गुप्तचरों का रखना, डूखोबरों के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कोई समाचार प्रकाशित करने की मनाही करना, अख़बारों में उनकी बुराई छपवाना, घूसखोरी, कोड़े मारना (लगाना), कारावास, निर्वासन, और परिवारों की तबाही करना इत्यादि सब उपाय आजमाये जा चुके हैं।

इसके विपरीत डूखोबरों ने अपने एक-मात्र धार्मिक अस्त्र, अर्थात् शान्त बुद्धि और धैर्य-युक्त दृढ़ता, का प्रयोग किया; और उनका कथन है "मनुष्य को मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर की आज्ञा अधिक मान्य समझनी चाहिए। इसलिए आप हमारे साथ चाहे जो कुछ भी करें, हम आपकी आज्ञा नहीं मान सकते और न मानेंगे।"

लोग इस राक्षसी स्पेन-अमेरिका युद्ध के उन वीरों की प्रशंसा करते हैं जिन्होंने संसार में यश प्राप्त करने और इनाम लेने और प्रसिद्धि प्राप्त करने की इच्छा से लाखों मनुष्यों का वध कर दिया है, अथवा अपने भाइयों का वध करने के बुरे काम में अपना जीवन दे दिया है। परन्तु कोई भी मनुष्य उन वीरों का नाम नहीं लेता, अथवा उनको जानता तक नहीं, जिन्होंने इस युद्ध के विरुद्ध युद्ध करते हुए, जेलखाने की गन्दी कोठरियों में अथवा कठोर निर्वासन में अपने प्राण दे दिये हैं और अब भी प्राण दे रहे हैं, और जो शरीर में प्राण रहते हुए धर्म और सत्य के ऊपर दृढ़ रहे हैं।

मैं स्वधर्म पर बलिदान होने वाले बीसियों ऐसे महापुरुषों को जानता हूं जो अबतक बलिदान हो चुके हैं, और सैकड़ों ऐसे महानुभावों को भी जानता हूं, जो समस्त संसार में फैले हुए, सत्य का प्रचार करते हुए स्वर्गारोही होते चले जा रहे हैं।

मैं किसानों के उपदेशक मि० ड्रांगिन को जानता हूं; जिन्हें दण्ड-सम्बन्धी सेना भेजकर और भांति-भांति के कष्ट देकर उनका प्राण-हरण किया गया। मैं एक दूसरे सज्जन, इस्यूमेको (ये ड्रांगिन के एक मित्र

थे), भी जानता हूं जिन्हें, कुछ काल तक दण्डय-सेना में रखकर, दूसरी दुनिया को निर्वासित कर दिया गया। मैं महाशय ऑलूखोविको को भी, जो एक कृषक थे, जानता हूं, जिन्होंने फौज में नौकरी करना अस्वीकार कर दिया था और इसी कारण से वे दण्डय-सेना में भेज दिये गए थे। जब उन्हें निर्वासित करने के लिए सिपाही एक जहाज़ पर लिये जा रहे थे, तब उन्होंने सेरेडा नामक सैनिक को, जो उन्हें अपनी निगरानी में लिये जा रहा था, अपने मत में कर लिया। फौज में नौकरी करना पाप-कर्म है इस सम्बन्ध में ऑलूखोविको ने उससे जो कुछ भी कहा था उसपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव से प्रभावित हो वह अपने अधिकारियों के पास गया और कहा—"मैं अत्याचारियों में अपनी गणना कराना नहीं चाहता; मुझे धर्म पर बलिदान होनेवालों की श्रेणी में अपना नाम लिखाने दो। इस पर उन लोगों ने उसे दण्ड देना आरंभ कर दिया, दण्डय-सेना में उसे भेज दिया और इसके बाद उसे याकूटस्क प्रान्त में निर्वासित कर दिया। मैं बीसियों ऐसे डूखोबरों को जानता हूं जिनमें से बहुतों ने प्राण दे दिये अथवा नेत्र-विहीन कर दिये जाने पर उन बातों का करना स्वीकार नहीं किया, जो ईश्वरीय नियम के विरुद्ध हैं।

अभी उस रोज मुझे एक पत्र एक युवक डूखोबर के पास से प्राप्त हुआ जो समरकन्द स्थित फौज को अकेला भेज दिया गया था। उसे अधिकारियों की ओर से वही आज्ञाएं मिलती हैं, वही धमकियां दी जाती हैं और वही अनुनय विनय की जाती है, और हमेशा वही सीधा और अनिवार्य उत्तर मिलता है—"मैं उन बातों को नहीं कर सकता जो मेरे ईश्वर-संबंधी विश्वास के विरुद्ध हैं।"

"तो हम कष्ट देकर तुम्हारा प्राण-हरण कर लेंगे।"

"यह आपका काम है। आप अपना काम करें, और मैं अपना काम करूंगा।"

यह बीस वर्ष का युवक कैसा बहादुर है। उसे सब लोगों ने

परित्यक्त कर दिया है। एक अज्ञात स्थान में वह उन लोगों से परिवेष्टित है जो उससे द्वेष रखते हैं, और धनवान्, शक्तिशाली और शिक्षित हैं और जो उसे अपनी अधीनता में लाने के लिए अपनी सारी बुद्धि और शक्ति का व्यय कर रहे हैं। पर वह उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करता, किन्तु यह सब होते हुए भी अपने इस वीरोचित कार्य में दृढ़ रहता है।

परन्तु लोग कहते हैं—"ये लोग व्यर्थ अपना बलिदान दे रहे हैं; ये लोग अपने प्राण देते हैं, परन्तु संसार तो ऐसा ही बना रहेगा।" यह मैं समझता हूं, ठीक वैसा ही,जैसा कि क्राइस्ट (ईसा-मसीह) तथा सत्य की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देने वाले अन्य ऐसे ही महानुभावों के बलिदान के सम्बन्ध में कहा जाता था। इस समय के लोग विशेषकर पढ़े-लिखे लोग ऐसे असभ्य हो गये हैं कि अपनी इस असभ्यता के कारण वे आध्यात्मिक बल (आत्म-बल ?) के महत्त्व और प्रभाव को भी नहीं समझ सकते। पचास रतल का डाइनामाइट का गोला (बम का गोला) जीवित मनुष्यों के एक समूह के ऊपर छोड़ दिया जाता है—इसे वे बल जानते और मानते हैं। परन्तु सत्य विचार,जिसको जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया गया है और व्यवहार में लाया गया है, यहां तक कि धर्मार्थ प्राणोत्सर्ग में भी उसका व्यवहार और अनुभव किया गया है, जो अब इस समय लाखों-करोड़ों मनुष्यों के लिए सुलभ हो गया है—यह उनके विचारानुसार बल नहीं है, क्योंकि इसमें आवाज नहीं होती है और न टूटे हुए अस्थि-पंजर और रक्त-कुण्ड ही दिखाई पड़ते हैं। विद्वान् मनुष्य (यह सच है कि इन लोगों का ज्ञान एक मिथ्या ज्ञान है) अपनी सारी ज्ञान-शक्ति का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करने में करते हैं कि मनुष्य-जाति पशुओं का जैसा जीवन व्यतीत करती है, केवल साम्पत्तिक विचार ही मनुष्य के मार्ग-दर्शक हैं और बुद्धि उसको केवल मनोरंजन के लिए ही दी गई है। परन्तु सरकारें इस बात को भली-भांति

जानती हैं कि वह कौन-सी वस्तु है जो संसार के ऊपर शासन करती है और इस कारण आत्म-रक्षा के भाव से प्रेरित होकर—वे निश्चित रूप से आध्यात्मिक शक्तियों के परिणामों के विषय में ही हमेशा चिंतित रहती हैं। क्योंकि उन्हीं शक्तियों के ऊपर तो उनका अस्तित्त्व अथवा विनाश निर्भर करता है।

इसीलिए रूसी सरकार की सारी शक्तियां इस काम में खर्च हो रही हैं कि डूखोबरों के प्रभाव से अपने-आपको कैसे बचाया जाय। अतः वे उनके प्रभाव का विश्लेषण करने और उन्हें देश की सीमा के बाहर निर्वासित कर देने में ही लगी हुई हैं।

परन्तु इन सारे प्रयत्नों के होते हुए भी डूखोबरों के इस संग्राम ने लाखों मनुष्यों की आंखें खोल दी हैं।

मैं सैकड़ों, वृद्ध और युवा, योद्धाओं को जानता हूं जिनको, साधु-प्रकृति, उद्योगी डूखोबरों पर होने वाले अत्याचारों को देख, अपने कार्य के न्यायोचित होने में सन्देह होने लगा है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं जिन्होंने इन लोगों के जीवन को तथा उन कष्टों को, जो उन्हें दिये गये हैं, देखने अथवा उनके विषय में सुनने के बाद ही, पहले-पहल जीवन तथा धर्म के सच्चे रहस्य पर विचार करना आरम्भ किया है।

और जो सरकार लाखों मनुष्यों के ऊपर रोजाना सैंकड़ों प्रकार के अत्याचार करती है, वह इस बात को जानती है, और इस बात को अनुभव करती है कि उसके अन्तःकरण पर भारी आघात हुआ है।

रूस में जो दूसरी लड़ाई इस समय लड़ी जा रही है, उसका ऐसा रूप है और उसके ऐसे परिणाम हैं। और ये परिणाम अकेले रूस की सरकार के लिए ही ऐसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं; प्रत्येक ऐसी सरकार को, जिसका निर्माण हिंसा (बल-प्रयोग) की भित्ति पर हुआ है और जिसकी स्थिति भी सैनिक-बल के ऊपर है, इस अस्त्र से एक-सा ही आघात पहुंचा है। ईसा-मसीह ने कहा था, "मैंने संसार को जीत लिया है।"

और सचमुच उन्होंने संसार को जीत लिया है, यदि लोग केवल उस अस्त्र की शक्ति पर विश्वास करना भर सीख लें, जो उन्होंने दिया है।

और यह अस्त्र है क्या ? प्रत्येक मनुष्य का स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि और अन्तःकरण की अज्ञानुसार कार्य करना। यह वास्तव में बहुत ही सरल, असंदिग्ध और ऐसा है, जिसका मानना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। एक बुद्धिमान् और विवेकवान् मनुष्य—वह मनुष्य जिसने अपनी आत्मा न तो बेच दी और न उसे कलुषित बना डाला है—यह कहता है–"तुम मुझे हत्या के काम में भागी बनाना चाहते हो; तुम अस्त्र-शस्त्र तैयार करने के लिए मुझसे रुपया मांगते हो; और यह चाहते हो कि ८ हत्यारों के संगठित दल में भाग लूं ? परन्तु मेरा कानून जुदा है। इससे जुदा है पर उसे तुम भी मानते हो। उसके अनुसार हत्या करना तो किसी से किसी प्रकार का द्वेष करने की भी मनाही है; इसलिए मैं तुम्हारी आज्ञा नहीं मान सकता।"

यह और अकेला यही उपाय है जिससे सारा संसार जीता जा रहा है।

: ३ :

कोई फौज में भर्ती न हो

संस्कार-शाली, बुद्धिमान्, साधु-प्रकृति धार्मिक पुरुष, जो प्रेम और भ्रातृ-भाव के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं जो हत्या करना एक घोर पाप समझते हैं, (बहुत थोड़े से आदमियों को छोड़) किसी पशु का वध नहीं कर सकते—ये सभी लोग एक बारगी, बशर्ते कि इन अपराधों को युद्ध (लड़ाई) की उपाधि दे दी गई हो, लोगों के मारे जाने, उनका माल लूटने, और उनके विनाश को केवल उचित और न्यायानुकूल ही नहीं समझते, वरन् स्वयं भी इस लूट-मार में, और इन हत्याओं में भाग लेते हैं, उनके लिए अपने-आपको तैयार करते हैं, उनमें सहायता करते हैं, और उनपर गर्व करते हैं, बशर्ते कि इस लूट-मार और खून-खच्चर को युद्ध के नाम से गौरवान्वित कर दिया गया हो। इसके अतिरिक्त हमेशा और हर जगह बार-बार हम यही देखते हैं कि अधिकांश लोग—जो श्रमजीवी हैं—वही लोग जो लूट-मार और हत्याएं करते हैं और जिनके ऊपर इन बातों का सारा भार है—इन बातों को न चाहते हैं, न उनके लिए तैयारी करते हैं और उनकी तदबीरें बांधते हैं। उन्हें तो अपनी इच्छा के विरुद्ध उन युद्धों में केवल इसलिए हिस्सा लेना पड़ता है कि वे ऐसी ही स्थिति में डाल दिये गए हैं और उनको ऐसी विपरीत शिक्षा दी जाती है कि उन्हें मजबूर होकर युद्धों में भाग लेना पड़ता है बल्कि वे तो सोचते हैं कि युद्ध से इन्कार करेंगे तो हमें और भी अधिक दुःख उठाना पड़ेगा। परन्तु इसके विपरीत जो लोग

इस लूट-मार और इन हत्याओं के लिए तदबीरें बांधते हैं और उनके लिए तैयारी करते हैं; वे उंगलियों पर गिनने योग्य बहुत थोड़े-से आदमी हैं, जो इन श्रम-जीवियों की कमाई के ऊपर विलासितापूर्ण और आलस्य-मय जीवन व्यतीत करते हैं। यह कपट बहुत पहले-से चला आ रहा है। परन्तु हाल में थोड़े समय से इन दगाबाजों की धृष्टता अपनी चरम सीमा को पहुंच गई है, और श्रमजीवियों की कमाई का एक बहुत बड़ा अंश इन श्रमजीवियों से छीनकर लूट-मार और नर-हत्या के कामों की तैयारी में व्यय किया जा रहा है। यूरोप के उन समस्त देशों में, जिनमें वैध-शासन-प्रणाली प्रचलित है, श्रमजीवियों को सभी श्रम-जीवियों को बिना किसी अपवाद के—इन लूट-मार और हत्या के कामों में हिस्सा लेने के लिए बाध्य किया जाता है; अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्धों को जान-बूझकर अधिकाधिक जटिल बना दिया जाता है और इसका परिणाम युद्ध होता है। बिना किसी कारण के शान्तिप्रिय देश लूटे जा रहे हैं। प्रति वर्ष कहीं-न-कहीं लोग कुछ हत्याएं करते और माल लूटते रहते हैं; और सब लोगों की जान हमेशा आपस के लूट-मार और कत्ल के खतरे में बनी रहती है। इन सब बातों का कारण केवल यही है कि ज्यादातर लोगों को एक मुट्ठी भर आदमी, जिनको इस ठगाई से लाभ पहुंचता है धोखे में डाले हुए हैं। इसलिए जो लोग मनुष्यों को आपस की इस लूट-मार और हत्या से उत्पन्न होनेवाली बुराई से बचाने को उत्सुक हैं उनके लिए सबसे पहला काम इस दगा-बाजी और धोखेबाजी का पर्दा फाश करना होगा, जिसमें सीधे-सादे और भोले-भाले श्रमजीवी और साधारण आदमी पड़े हुए हैं। उन्हें यह बतलाना होगा कि उनके साथ इस धोखेबाजी से किस तरह काम लिया जा रहा है, इसका अस्तित्त्व किन-किन बातों के ऊपर है और उसका अन्त किस प्रकार किया जा सकता है। परन्तु यूरोप के संस्कार-वान् मनुष्य इस प्रकार की कोई भी बात नहीं करते। संसार में शान्ति-स्थापना के बहाने वे आज यूरोप के एक नगर में एकत्र होते हैं तो कल

दूसरे में और सभाओं में कुर्सियां तोड़ते हुए, गम्भीर-मुख बैठे बड़ी संजीदगी के साथ इस बात पर विचार और वाद-विवाद किया करते हैं कि उन चोरों को, जो लूट-मार से अपनी जीविका चलाते हैं, इस लूट-मार और डकैती को छोड़ देने और शान्तिप्रिय नागरिक बनने के लिए राजी करने का सबसे उत्तम उपाय क्या है; इसके बाद वे बड़े-बड़े गंभीर प्रश्न करने लगते हैं। प्रथम, यह कि क्या इतिहास, कानून और उन्नति की दृष्टि से युद्ध (लड़ाई) अब भी वांछनीय है? (मानों ये सारी मिथ्या बातें, जो हमारी आविष्कृत हैं, हमको अपने जीवन के मूल नैतिक कानून से अलग कर सकती हैं) दूसरे, यह कि युद्ध का परिणाम क्या होता है? (मानो इस बात में अब भी कोई सन्देह है कि युद्ध का परिणाम हमेशा सार्वजनिक पीड़ा और दुराचार होता है); और अन्ततः, यह कि युद्ध की समस्या कैसे हल की जाय? (मानो यह कोई बड़ी भारी समस्या उपस्थित हो गई हो कि मोहाकृष्ट लोगों को उस भ्रम से किस प्रकार मुक्त किया जाय जिसे कि हम स्वयं देख रहे हैं)।

यह बहुत भयंकर है! उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि कैसे तन्दुरुस्त, शान्त-चित्त और सदैव प्रसन्न रहने वाले मनुष्य प्रति वर्ष मौण्ट कार्लो जैसे द्यूत-स्थान के मालिकों (रक्षकों ?) को छोड़ अन्य किसी को भी लाभ न पहुंचाकर उन स्थानों पर अपनी तन्दुरुस्ती, अपनी कीर्ति और कभी-कभी अपने प्राणों को भी छोड़कर चल बसते हैं। हमें इन लोगों पर दया आती है, हम इस बात को साफ तौर पर देखते हैं कि उनकी इन वंचनाओं का कारण वे प्रलोभन हैं जिनमें जुवारी लोग फंस जाते हैं, अर्थात् जीत के अवसर की विषमता और जुआरिओं की मूर्खता जो भली-भांति यह जानते हुए भी; कि अधिकांश संभावना उनके हारने की ही है, यह आशा करते रहते हैं कि शायद एक बार ही कहीं वे दूसरों से अधिक भाग्य-शाली सिद्ध हो जायं और उनका पासा सीधा पड़ जाय। ये सब बातें बिलकुल साफ हैं। पर तो भी लोगों को इन दुर्व्यसनों और उनसे होने वाली विपत्तियों से मुक्त करने के लिए हम

उन्हें उन प्रलोभनों को दिखाने के बदले जिनमें कि वे फंसे जा रहे हैं, द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) की बुराइयों को, जिसका आधार दूसरे लोगों के भाग्य को अपने से खराब समझ लेना है, दिखाने तथा यह बतलाने के बदले कि वे हारेंगे अवश्य, सभाओं में एकत्र होते हैं और बड़ी गंभीरता के साथ इस प्रश्न पर वाद-विवाद करते हैं कि क्या प्रबंध किया जाय कि इन द्यूत-क्रीड़ा के मकानों के मालिक स्वेच्छा से इन संस्थाओं को बन्द कर दें; हम इस विषय में पुस्तकें लिखते हैं, और हम अपने आप से यह प्रश्न करते हैं कि क्या इतिहास कानून और उन्नति यह चाहते हैं कि द्यूत-शालाएं बनी रहें, और यह कि इस द्यूत-क्रीड़ा का आर्थिक, मानसिक (बुद्धि-विषयक), तथा नैतिक परिणाम क्या होता है।

यदि किसी मनुष्य को मद्य-पान का व्यसन हो गया है, और मैं उसको यह बतलाता हूं कि वह स्वयं मद्य-पान की आदत को छोड़ सकता है और यह कि उसे फौरन यह आदत छोड़ देनी चाहिए, तो इस बात की आशा की जा सकती है कि वह मेरी बात सुनेगा। लेकिन अगर हम उससे यह कह दें कि तुम्हारे मद्य-पान की समस्या एक बड़ी जटिल और कठिन समस्या है जिसे हल करने का हम विद्वान् लोग अपनी सभाओं में प्रयत्न कर रहे हैं, तो शायद वह इस समस्या के हल करने के उपाय की प्रतीक्षा में बराबर शराब पीता ही रहेगा। ठीक यही बात मिथ्या और सभ्य, लड़ाई का अन्त करने के बाह्य वैज्ञानिक साधनों, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें, पंचायतें और ऐसी ही अन्य बहुत-सी वाहियात बातों के सम्बन्ध में भी है, जब कि हर समय होशियारी के साथ युद्ध के कारणों को दूर करने के सबसे सरल, सबसे अधिक आवश्यक और निश्चित उपाय को छिपाया जा रहा है—वह उपाय जिसे प्रत्येक मनुष्य भली प्रकार देख सकता है बस यही है कि जो लोग युद्ध नहीं चाहते हैं, वे आपस में लड़ें न। इस बात की आवश्यकता नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाया जाय, पंचायतें बनाई जायं, और अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें कायम की जायं अथवा समस्याओं का हल ढूंढ़ा जाय; किन्तु

आवश्यकता केवल इस बात की है कि जिन लोगों की आंखों में धूल झोंको जा रही है, जिन्हें इस कपट का शिकार बनाया जा रहा है, वे अपनी आंखें खोलें, प्रबुद्ध हों और अपने-आपको उस मोह अथवा इन्द्र-जाल से मुक्त करें जिसमें कि वे पड़े हुए हैं। जो लोग लड़ाई नहीं चाहते हैं, जो उसमें हिस्सा लेना पाप समझते हैं, उनके लिए लड़ाई (युद्ध) मे मुक्त होने का उपाय यह है कि वे लड़ाई से हमेशा दूर रहें, उनसे अपना हाथ खींचे रहें। इस उपाय की शिक्षा पहले जमाने से टरटूलियन और ओरिजेन जैसे ईसाई लेखकों द्वारा तथा पॉल के अनुयायियों और उनके उत्तराधिकारी मेनानाइट, क्केकर और हर्नहटर लोगों द्वारा दी जा रही है। सैनिक-सेवा एक पाप-पूर्ण, हानिकारक और मूर्खतापूर्ण कर्म है, इस सम्बन्ध में डामण्ड, गैरिसन ने और बीस वर्ष हुए बालों ने तथा स्वयं मैंने भी बहुत-कुछ लिखा है और उसका जितना भी हो सका प्रचार भी किया है। जिस उपाय का मैंने वर्णन किया है, उसको पुराने जमाने में लोगों ने अपनाया था और अभी हाल में आस्ट्रिया, प्रशिया, हालैण्ड, स्वीजरलैण्ड और रूस में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भी कभी-कभी इसका आश्रय लिया है और अभी थोड़े ही दिन हुए डूखाबरों ने भी इससे काम लिया था, जिनमें के १५,००० आदमियों ने तीन वर्ष तक शक्तिशाली रूस सरकार का बड़ी वीरता के साथ मुकाबला किया, और उन तमाम कष्टों के होते हुए भी जो कि उनको दिये गये थे, उन्होंने उसकी इस आज्ञा को सिर नहीं झुकाया कि तुम आकर सैनिक-सेवा के अपराधों में भागी बनो।

परन्तु शान्ति के उपासक सुसंस्कृत महानुभाव, इस उपाय को काम में लाने की सलाह देना तो दूर रहा, उसकी बात को भी नहीं सुन सकते। यदि कहीं वह उनके सामने पेश किया जाता है तो वे इस बात का बहाना करते हैं कि उन्होंने उसे देखा ही नहीं, अथवा यदि किसी प्रकार उनकी दृष्टि उस पर पड़ ही जाती है तो वे बड़ी गंभीरता के साथ सिर हिलाकर उन अशिक्षित और विवेक-हीन पुरुषों के प्रति दया

प्रकट करते हैं जो उनकी दृष्टि में ऐसे प्रभाव-हीन और मूर्खतापूर्ण उपाय को काम में लाते हैं जब कि इससे अच्छा और उत्तम उपाय मौजूद है। और वह क्या है ? यही कि उस सरकार से, जिसका अस्तित्त्व हिंसा (बल-प्रयोग) और छल-कपट के ऊपर है, इन दोनों बातों को छोड़ देने के लिए अनुनय-विनय करना।

वे हमें यह बतलाते हैं कि सरकारों के बीच जो गलत-फहमी है उसका तस्फिया अदालतों अथवा पंचायतों के द्वारा हो जायगा। लेकिन सरकारें गलत-फहमियों का निबटारा चाहें तब न ? इसके विपरीत, जहां कोई गलत-फहमी नहीं होती है, वहां वे एक-न-एक पैदा कर देती हैं, और दूसरी सरकारों के साथ होने वाली ऐसी ही गलत-फहमी को वे सेना रखने का एक बहाना बना लेती हैं। क्योंकि उन्हें तो किसी-न किसी प्रकार सेना रखनी है, जिसके ऊपर उनकी शक्ति का दारो-मदार है। इस प्रकार शान्ति के बुद्धिमान् उपासक लाखों-करोड़ों दुःखार्त श्रम-जीवियों का ध्यान उस उपाय की ओर से दूर करने का प्रयत्न करते हैं जो उनको उस गुलामी से निकालने का एक-मात्र उपाय है, जिसमें कि वे अपनी युवावस्था से लेकर अबतक पड़े हुए हैं। इसके लिए पहले तो वे उनमें स्वदेश-प्रेम (Patriotism) के भाव भरते हैं, दूसरे विकृत धर्म के रोजगारी पुजारियों द्वारा लोगों को धर्म की शपथ दिलाते हैं, और तीसरे, उन्हें दण्ड का भय दिखाते हैं।

हमारे जमाने में, जब कि भिन्न-भिन्न जाति और देशों के लोग परस्पर प्रेम और शान्ति के साथ रह रहे हैं, वह माया-जाल, जो स्वदेश-प्रेम के नाम से प्रसिद्ध है, हमारी अवस्था के विवेकशील पुरुषों पर इतनी अच्छी तरह प्रकट हो गया है कि वे उससे अपने-आपको मुक्त कर सकते हैं (यह स्वदेश-प्रेम हमेशा एक राज्य अथवा जाति के ऊपर दूसरे राज्य या जाति की प्रधानता का दावा किया करता है और इस लिए हमेशा लोगों को व्यर्थ के और हानि कारक युद्धों में फंसाये रहता है)। और शपथ लेने के बंधन के धार्मिक छल-कपट में (जिसकी

उसी इंजील में साफ तौर पर मुमानियत की गई है जिसको ये सरकारें मानती हैं) परमात्मा की कृपा से और भी कम विश्वास किया है। इस कारण जो बात बहु-संख्यक मनुष्यों को सैनिक-सेवा से इन्कार करने से रोकती है, वह केवल दण्ड का भय है जो ऐसी इन्कारी के लिए सरकारों की ओर से दिया जाता है। परन्तु यह भय केवल सरकार के कपट-जाल का परिणाम-मात्र है; और सिवाय भ्रमोत्पादन के इसका अन्य कोई आधार नहीं है ।

सरकारों को उन लोगों का भय हो सकता है और होना भी चाहिए जो सैनिक-सेवा से इन्कार करते हैं, और वास्तव में वे उनसे डरती भी हैं। क्योंकि हर एक इन्कारी से उस माया-जाल की चिरकालीन प्रतिष्ठा का मूलोच्छेद होता है, जिसके द्वारा सरकारों को लोगों के ऊपर अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु उन लोगों को, जो सैनिक-सेवा से इन्कार करते हैं, उस सरकार से डरने का किसी तरह का कोई कारण नहीं है, जो उन्हें नर-हत्या जैसे घोर अपराध करने को कहती हैं। सैनिक-सेवा अस्वीकार करने में उतना खतरा नहीं है जितना सेना में भर्ती होने में है। सैनिक-सेवा का अस्वीकार कर देना और उसके परिणाम-स्वरूप दिया गया दण्ड—क़ैद की सजा, निर्वासन आदि मनुष्य के लिए उन खतरों की अपेक्षा कहीं कम कष्ट-प्रद हैं जो कि सैनिक-सेवा स्वीकार कर लेने में होते हैं। सेना में भर्ती हो जाने पर प्रत्येक मनुष्य को युद्ध में हिस्सा लेना पड़ता है जिस काम के लिए वह तैयार किया जा रहा है। युद्ध के समय प्रायः उसकी अवस्था मौत की सजा का हुक्म पाये हुए मनुष्य की भांति हो जाती है। वह या तो सचमुच अपनी जान से हाथ धोता है अथवा पंगु कर डाला जाता है। मैं सेबास्टपोल में देख चुका हूं, कि एक पल्टन का धावा उस किले की ओर बोल दिया गया, जहां पर इससे पहले दो पल्टनें ख़तम हो चुकी थीं, और वह पल्टन वहीं खड़ी रही, यहां तक कि उसकी भी सफ़ाई कर दी गई। दूसरे, जो आदमी फौज में भर्ती होता है वह यदि मारा नहीं गया तो

वह सैनिक सेवा की अस्वास्थ्य-कर स्थिति में पड़कर बीमार हो जायगा और मर जायगा। तीसरे अपने से बड़े अधिकारियों द्वारा अपमानित होने पर वह अपने आपको संभाल नहीं सकेगा, और फौरन जवाब दे बैठेगा। इससे सैनिक व्यवस्था का भंग होना, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे दण्ड दिया जायगा और यह दण्ड उस दण्ड से अधिक भयंकर होगा जो सैनिक-सेवा अस्वीकार करने पर उसे दिया गया होता। यदि यह कुछ न हुआ तो वह अपने जीवन के तीन या चार साल नर-हत्या, दुराचार-और पाप-कर्मों में व्यतीत करेगा, और इन वर्षों में जेल की भांति ही बन्दी-जीवन व्यतीत करता रहेगा और पाप-वृत्ति दुष्टात्माओं से अपमानित होता रहेगा। क्या इस घोर पापमय पशु-जीवन की अपेक्षा यह अच्छा नहीं है कि वह ऐसी निघृ'ण सैनिक सेवा करने से इन्कार कर दे और उसके दण्ड-स्वरूप जो-कुछ थोड़ी-सी सजा मिले उसी को स्वीकार कर ले ?

दूसरे, सैनिक सेवा अस्वीकार करने पर भी प्रत्येक मनुष्य (चाहे उसे यह बात कितनी ही आश्चर्य-जनक क्यों न प्रतीत होती हो,) हमेशा दण्ड से बचने की आशा कर सकता है। क्योंकि उनके इन्कार कर देने पर सरकारों को अपने कपट-जाल के खुल जाने का डर रहता है। और इसलिए संभव है, उसे दण्ड भी न दिया जाय। सरकारें अगर दण्ड देना भी चाहेंगी तो उसमें कोई उसका साथ न देगा। क्योंकि कोई भी आदमी इतना बेवकूफ न होगा जो किसी ऐसे मनुष्य के दण्ड देने में भाग ले जो उनपर अत्याचार करने से इन्कार करता है। इस कारण सैनिक सेवा की मांगों के आगे सिर झुकाना स्पष्टतया साधारण जनों को एक प्रकार से भ्रम में डालने के काम के आगे सर झुकाना है—ऐसा ही जैसा कि किसी गड़रिये का भेड़ों को देखते हुए भी गहरे तालाब में कूद पड़ना जहां पर कि उनका नाश स्पष्ट और अनिवार्य है।'

एक और भी कारण है जो प्रत्येक ऐसे मनुष्य को सैनिक सेवा

अस्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकती है, जो सरकार द्वारा जादू डाल कर अचेत नहीं कर दिया गया है और जो अपने काम के महत्त्व को भली-भांति समझता है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन उद्देश्य-हीन और निष्फल जीवन न हो। बल्कि वह तो चाहता है कि उससे ईश्वर तथा मनुष्य को कुछ सेवा भी अवश्य हो सके। पर तो भी प्रायः मनुष्य ऐसी सेवा का बिना कोई अवसर पाये ही अपना सारा जीवन यों ही बिता देता है। सैनिक सेवा अस्वीकार करने का आह्वान इस समय के प्रत्येक मनुष्य के लिए ठीक ऐसी सेवा करने का अवसर प्रदान करता है। प्रत्येक मनुष्य सैनिक सेवा में किसी प्रकार का भाग लेने अथवा किसी सरकार को टैक्स देने से, जिनका उपयोग वह सैनिक कामों में करती, इन्कार करके अपनी इन्कारी से ईश्वर तथा मनुष्य की एक बहुत बड़ी सेवा कर सकता है। क्योंकि ऐसा करने से वह उस उत्तम सामाजिक व्यवस्था की ओर मनुष्य जाति को क्रमशः बढ़ाने वाले अत्यन्त प्रभावोत्पादक साधन का प्रयोग करता है जिसके लिए वह प्रयत्न कर रही है और जिसकी प्राप्ति अन्ततः उसको अवश्य होगी। परन्तु सैनिक सेवा में भाग लेने से इन्कार कर देना केवल लाभ-प्रद ही नहीं है। मैं तो समझता हूं कि यह हमारे लिए एक बिलकुल स्वाभाविक बात है और यही नहीं कि हमारे समय के अधिकांश लोगों को इस प्रकार इन्कार कर देना चाहिए; बल्कि सच तो यह है कि यदि लोगों पर जादू की लकड़ी नहीं फेर दी गई है तो सैनिक सेवा करने से इन्कार न करना लोगों के लिए असम्भव हो जाना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ-न-कुछ काम ऐसे हैं जो नैतिक दृष्टि से उसके लिए असम्भव होते हैं—ऐसे असम्भव जैसे कि कुछ शारीरिक काम उसके लिए असम्भव होते हैं। और अपरिचित तथा आचार-हीन पुरुषों को, जिनका मनुष्यों का वध करना एक स्वीकृत लक्ष्य है, आज्ञा पालन करने की प्रतिज्ञा गुलामों की तरह करना, अधिकांश लोगों के लिए, यदि उन पर इस जादू का कोई असर नहीं

पड़ा है, तो नैतिक दृष्टि से ठीक ऐसा ही असम्भव काम है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए सैनिक सेवा अस्वीकार कर देना केवल लाभ-प्रद और आवश्यक ही नहीं है, वरन् उसके लिए ऐसा न करना असम्भव ही है, यदि वह सरकारों की ओर से फेरे जाने वाले और मूर्ख बना देने वाले जादू के प्रभाव से मुक्त है।

"परन्तु उस समय क्या होगा जब कि सब लोग सैनिक-सेवा करने से इन्कार कर देंगे, और दुष्टों के ऊपर कोई रोक या दबाव न रहेगा, और दुष्ट पुरुषों को सब प्रकार की स्वतन्त्रता हो जायगी? वे तो निर्भय और विजयी हो जायंगे? तब तो असभ्य जंगली मनुष्यों से—पीली-जाति वाले मंगोलों से भी हमारी रक्षा का कोई साधन न रह जायगा। वे लोग आवेंगे और हमें दबा बैठेंगे। तब?"

मैं इस बारे में कुछ भी न कहूंगा। चूंकि दुष्ट पुरुष ही बहुत समय से विजय करते आये हैं, अब भी बराबर विजय कर रहे हैं, और एक दूसरे से लड़ते हुए उन्होंने बहुत समय से ईसाई-जाति के ऊपर अपना आधिपत्य जमा रखा है, इसलिए उन बातों से भय-भीत होने का कोई कारण नहीं है जो पहले हो चुकी हैं, मैं पीली जाति वाले जंगली लोगों के खतरे के सम्बन्ध में भी कुछ न कहूंगा—जिनको हम लड़ाई के लिए बराबर भड़काते और उसकी शिक्षा देते रहते हैं—क्योंकि यह सिर्फ एक बहाना-मात्र है। इस समय यूरोप में जितनी भी सेना है उसका शतांश भी इन लोगों से अपनी रक्षा करने के लिए बिलकुल पर्याप्त है—मैं इन तमाम बातों के बारे में कुछ भी न कहूंगा, क्योंकि ऐसे कामों का संसार के लिए व्यापक परिणाम क्या होगा इसका विचार हमारे आचरण और उद्योग का पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता।

मनुष्य को दूसरा पथ-प्रदर्शक भी दिया गया है और वह भी ऐसा जो कभी भूल नहीं करता—उसका अन्तःकरण। उसकी आज्ञानुसार कार्य करने से मनुष्य को निःसन्देह यह मालूम हो जाता है कि वह

वही कर रहा है जो उसे करना चाहिए था। इसलिए उन खतरों के बारे में, जो कि सैनिक-सेवा अस्वीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा भय-भीत किये रहते हैं, तथा उन बातों के बारे में, जो ऐसी अस्वीकृति के परिणाम-स्वरूप, संसार में भय उत्पन्न करती रहती हैं, सारे विचार उस घोर कपट-जाल के सामने एक परमाणु-मात्र है, जिसमें ईसाई मनुष्य-समाज फंसा हुआ है, और जिसकी रक्षा उन सरकारों की ओर से बड़ी सावधानी के साथ की जा रही है जो इस कपट-जाल की शक्ति के ऊपर ही कायम है।

यदि मनुष्य केवल उसी आज्ञा के अनुसार कार्य करे जो उसे अपनी विवेक-बुद्धि, अपने अन्तःकरण और अपने ईश्वर की ओर से दी गई है अथवा दी जाती है, तो उसके तथा संसार-भर के लिए इसका परिणाम सर्वोत्कृष्ट होगा।

लोग हमारे जीवन की निन्द्य अवस्थाओं की शिकायत करते हैं। परन्तु इस मौजूदा हालत में और हो ही क्या सकता है ? एक ओर तो हम सब लोग जबान से केवल उस एक सारभूत ईश्वरीय कानून को ही नहीं (जिसकी घोषणा अब से लगभग हजार वर्ष पूर्व की गई थी) अर्थात् "तू किसी का वध मत कर" किन्तु सारे मनुष्य-समाज के भ्रातृ-भाव और प्रेम के कानून को भी स्वीकार करते हैं, पर दूसरी ओर हमारे यूरोपीय संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने आचार-द्वारा उसी ईश्वरीय कानून को अस्वीकार करता है और राष्ट्र-पति, राजा, प्रधान मन्त्री, निकोलस अथवा कैसर की आज्ञा पाने पर हत्या करने के अस्त्र आदि लेकर यह कहने लगता है, "यह लीजिए, मैं किसी भी मनुष्य को पीड़ा पहुंचाने, बारूद से उड़ा देने अथवा मार डालने के लिए तैयार खड़ा हूं, मुझे आज्ञा दीजिए ?"

वह समाज किस प्रकार का होगा जो ऐसे आदमियों का बना हुआ है ? ऐसा समाज अवश्य भयंकर होगा, और वास्तव में ऐसा है भी।

भाइयो, उठो और आंखें खोलो! तुम उन नराधमों की बातें न सुनो जो तुम्हारी बाल्यावस्था से तुम्हारे अन्दर ऐसे स्वदेश-प्रेम के पैशाचिक भाव भरते रहते हैं, जो कि सत्य और धर्म दोनों के विरुद्ध है और जिनकी आवश्यकता केवल तुमसे तुम्हारी सम्पत्ति, तुम्हारी स्वाधीनता और तुम्हारे मनुष्योचित मान-प्रतिष्ठा का अपहरण करने के लिए ही है; न उन पुराने धूर्तों की बातें सुनो जो अपने आविष्कृत एक क्रूर-कर्मा ईश्वर के नाम पर एक विकृत और मिथ्या धर्म के नाम पर युद्ध करने का उपदेश करते हैं। तुम उन पाखण्डी लोगों की बातें भी न मानो जो विज्ञान और सभ्यता के नाम पर, केवल वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के अभिप्राय से ही सभाओं में जमा होते हैं, पुस्तकें लिखते हैं और लम्बे-चौड़े व्याख्यान देते है, जिनमें लोगों को यह आश्वासन दिलाते हैं कि वे लोगों के लिए ऐसे अच्छे और शान्तिमय जीवन की व्यवस्था कर देंगे, जिसमें उन्हें कोई काम ही नहीं करना होगा। तुम उनपर विश्वास मत करो। केवल अपने अन्तःकरण पर विश्वास करो जो तुम्हें यह बतलाता है कि तुम न तो पशु हो और न गुलाम; किन्तु स्वतन्त्र मनुष्य हो और अपने कामों के लिए आप उत्तरदायी हो; और इसीलिए अपनी इच्छा से अथवा उन लोगों की इच्छा पर, जिनका अस्तित्त्व इन हत्याओं के ऊपर है, हत्या करनेवाले मनुष्य नहीं बन सकते। तुम्हारे लिए आवश्यकता इसकी है कि उठो और आंखें खोलो और उस काम की भयंकरता और बुद्धि-हीनता को देखो जो कि तुम करते आये हो और इस समय भी करते हो। और इस बात को भली प्रकार समझ जाने के बाद उस बुराई को त्याग दो, जिससे तुम घृणा करते हो और जो तुम्हारे विनाश का कारण हो रही है। यदि तुम केवल उस बुराई से अपना हाथ खींच लो जिससे तुम स्वयं घृणा करते हो, तो उन धूर्त्त शासकों का आप-से-आप नाश हो जायगा। जो पहले तुम्हें बिगाड़ते हैं और बाद में तुम पर अत्याचार करते हैं—ठीक उसी

प्रकार जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही उलूकगण अदृश्य हो जाते हैं। फिर बस जीवन की वे नवीन मानुषी और भ्रातृभाव उत्पन्न करनेवाली शर्तें भी बन जायंगी जिनके लिए संसार—जो दुःखों से पीड़ित है, शासकों की धूर्तता से त्रस्त है और अनिवार्य द्वन्द्वों में नष्ट हो गया है—बहुत समय से इच्छुक है।

: ४ :

कुछ चुनी हुई बातें

प्रत्येक मनुष्य यह जानता है और वह उसे जाने बिना रह भी नहीं सकता कि युद्ध, जो मनुष्य की नीचतम पैशाचिक शक्तियों का आह्वान करता है, मनुष्यों को पतित और पशु-तुल्य बना देता है। प्रत्येक मनुष्य उन दलीलों की कमजोरी को अच्छी तरह जानता है, जो इस युद्ध के पक्ष में पेश की जाती हैं, जैसी कि डे मेस्टर (De master) महाशय मोल्टके (Moltke) तथा ऐसे ही अन्य लोगों की ओर से पेश की गई हैं। उन सब का आधार लोगों का यह मिथ्या विश्वास है कि मनुष्य जाति पर आनेवाले प्रत्येक संकट से किसी-न-किसी प्रकार उसका लाभ ही हो सकता है। उनके कथन का आधार यह अस्थायी और मिथ्या कथन भी है कि युद्ध पहले से होते आये हैं और इसलिए वे हमेशा होते भी रहेंगे। मानो मनुष्य के बुरे कर्मों का समर्थन उस लाभ अथवा उपयोगिता से, जो उसे उन कामों में कभी-कभी दृष्टि-गोचर होते हैं, अथवा इस विचार से किया जा सकता है कि बहुत काल से होते चले आये हैं। बुद्धिमान समझा जानेवाला सम्पूर्ण मनुष्य-समाज इन सब बातों को भली प्रकार जानता है। इसके बाद एकाएक युद्ध छिड़ जाता है और ये सारी बातें बात-की-बात में लोगों के दिमाग़ से काफूर हो जाती हैं, और वही आदमी जो कल युद्ध की निर्दयता, निरर्थकता और मूर्खता सिद्ध कर रहे थे, आज अधिकाधिक संख्या में मनुष्यों के मारे जाने के सम्बन्ध में, मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न होने-

वाली वस्तुओं के अधिकाधिक संख्या में बर्बाद और नष्ट किये जाने के सम्बन्ध में, तथा उन निरुपद्रव, शान्ति-प्रिय और परिश्रम-शील मनुष्यों में,—जो अपने परिश्रम से उन अर्द्ध-संस्कृत मनुष्यों को भोजन, वस्त्र आदि देते और उनका भरण-पोषण करते हैं, जो उन्हें अपने अन्तःकरण, अपने कल्याण अथवा अपने विश्वास के विरुद्ध ऐसे भयंकर क्रूर कर्मों के करने को मजबूर करते हैं,—अधिक-से-अधिक मात्रा में द्वेषाग्नि प्रज्वलित करने का ही विचार करते हैं, उसी की चर्चा करते हैं और उसी के सम्बन्ध में लेख लिखते हैं।

प्रार्थनाओं, धर्मोपदेशों, प्रोत्साहनों, प्रदर्शनों, चित्रों तथा समाचार-पत्रों से जो युद्ध में आहुति का काम देते हैं, पागल बने हुए सैकड़ों-हजारों मनुष्य एक ही तरह की पोशाकें पहने, हाथों में नाना प्रकार के घातक अस्त्र लिये हुए, अपने माता-पिता, स्त्री, बच्चे सबको शोकावस्था में और व्यथित-हृदय छोड़कर, स्वयं भी व्यथित-हृदय होकर, यद्यपि प्रकट में बड़ी शेखी बघारते रहते हैं, उस स्थान पर जाते हैं जहां पर वे अपनी जान को खतरे में डालकर, उन मनुष्यों की हत्या करने का भयंकर कर्म करेंगे जिनसे वे परिचित भी नहीं हैं और जिन्होंने उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचाई है। इनके साथ बहुत से चिकित्सक (डाक्टर) और बहुत सी उप-चारिकाएं भी हो लेती हैं जो यह समझती हैं कि वे अपने घर पर रहकर सीधे-सादे, शान्ति-प्रिय दुःखी मनुष्यों की सेवा नहीं कर सकतीं, किन्तु वे केवल उन्हीं लोगों की सेवा कर सकती हैं जो एक दूसरे का वध करने में व्यस्त हैं। जो लोग रण-क्षेत्र से दूर हैं और अपने-अपने घरों में रहते हैं, वे मनुष्यों के मारे जाने की खबर पाकर बड़े प्रसन्न होते हैं, और जिस समय उन्हें यह मालूम होता है कि बहुत से जापानी मारे गये तो वे अपने ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं।

ये सब बातें केवल उच्च भावों का प्रदर्शन ही नहीं समझी जातीं, वरन् जो लोग ऐसे साहित्य से अलग रहते हैं वे लोग—यदि वे इन लोगों को इन क्रूर कर्मों की वास्तविकता का दिग्दर्शन कराकर सन्मार्ग

पर लाने का प्रयत्न करते हैं—तो देश-द्रोही और विश्वास-घात करने वाले समझे जाते हैं और हर समय उनके उस क्रूर-कर्मा नृशंस मनुष्य-समाज-द्वारा अपमानित किये जाने और मारे जाने का भय रहता है जो अपनी इस मूर्खता और क्रूरता का समर्थन करने में पशु-बल के अतिरिक्त अन्य कोई भी अस्त्र ग्रहण नहीं कर सकते।

हमारे इस जमाने में ईसाई मनुष्य-समाज की ऐसी स्थिति है। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि हम ऐसे ही रहेंगे जैसे कि इस समय हैं, अर्थात् अपने व्यक्तिगत जीवन में तथा भिन्न-भिन्न राज्यों सम्बन्धी जीवन में केवल अपने तथा अपने राज्य के हित (भलाई) को ही दृष्टि में रख कर अपने सारे काम करते रहेंगे और जैसा कि इस समय करते हैं, बल-प्रयोग-द्वारा इस हित की रक्षा करने का विचार करते रहेंगे, तो एक व्यक्ति तथा राज्य के विरुद्ध दूसरे व्यक्ति तथा राज्य के बल-प्रयोग (हिंसा) के साधनों को निश्चय रूप से बढ़ाते हुए हम, अपनी आय के अधिकांश भाग को सैन्य-संगठन में व्यय करके, प्रथम तो अपना अधिक-से-अधिक नाश करेंगे, और दूसरे, पारस्परिक लड़ाई में उत्तम-उत्तम शक्ति-सम्पन्न वीरों का वध करके दिन-ब-दिन अधिकाधिक आचार-भ्रष्ट और नैतिक दृष्टि से पतित होते जायँगे।

"परन्तु हमें ऐसे समय क्या करना चाहिए जब कि हमारे शत्रुओं ने हमारे ऊपर पहले से ही आक्रमण कर दिया है, हमारे आदमियों को मार रहे हैं, और हमको धमका रहे हैं ?" यह बात किसी भी सिपाही अफसर, सेना-पति, जार अथवा किसी व्यक्ति-विशेष से पूछी जा सकती है। "क्या हमें चाहिए कि हम अपने शत्रुओं को अपनी सम्पत्ति नष्ट करने दें, अपनी गाढ़ी कमाई को छीन लेने दें, अपने आदमियों को कैद करने अथवा मार डालने दें ?"

इस प्रश्न का, कि इस समय, जब लड़ाई शुरू हो गई है, क्या करना चाहिए, मेरे लिए, जोकि अपने उद्देश्य को समझता हूं, फिर मैं चाहे जिस परिस्थिति में होऊं, चाहे लड़ाई शुरू होगई हो या नहीं,

चाहे हजारों रूसी या जापानी आदमी मार डाले गये हों, चाहे अकेला पोर्ट आर्थर ही नहीं किन्तु सेण्ट पीटर्सबर्ग और मास्को भी ले लिया गया हो, स्पष्ट उत्तर यह होगा कि मैं ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर किसी की आज्ञानुसार कोई काम नहीं कर सकता, और इसलिए एक मनुष्य की हैसियत से मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में, सेना का संगठन करके या उसमें सहायता पहुंचा कर अथवा प्रोत्साहन देकर, किसी भी प्रकार से युद्ध में भाग नहीं ले सकता; मैं न ऐसा कर सकता हूं न करना चाहता हूं और न करूंगा ही। मेरे उन कामों के न करने से जो कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध हैं, उस समय तत्काल परिणाम क्या होगा, इस बात को मैं नहीं जानता परन्तु मेरा विश्वास है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करने का परिणाम सिवा उसके और कुछ हो ही नहीं सकता जो मेरे लिए तथा अन्य सब लोगों के लिए अच्छा है।

"परन्तु उन शत्रुओं के सम्बन्ध में कैसा आचरण करना चाहिए जो कि हम पर आक्रमण करते हैं ?"

"अपने शत्रुओं से प्रेम करो और फिर तुम्हारा कोई शत्रु न रह जायगा" यह बात ईसा के मतानुयायी बारहों देवदूतों के उपदेशों में कही गई है। यह उत्तर केवल शब्द-मात्र नहीं हैं, जैसा कि वे लोग समझते होंगे, जो इस खयाल के आदमी हैं कि किसी को अपने शत्रुओं से भी प्रेम करने का उपदेश अथवा सलाह देना अत्युक्ति है, यह उत्तर एक बहुत स्पष्ट और निश्चयात्मक कार्य को तथा उसके परिणामों को प्रकट करता है।

अपने शत्रुओं से—जैसे जापानी, चीनी, वे पीले (मंगोलियन) आदमी जिनके प्रति अज्ञानी मनुष्य हमारे अन्दर द्वेष-भाव भड़काने का प्रयत्न कर रहे हैं—प्रेम करने का अर्थ है, उन्हें अफीमखोरी की आदत डाल कर उनका शरीर विषाक्त बनाने का अधिकार प्राप्त करने के अभिप्राय से वध न करना, जैसा कि अंग्रेज जाति ने किया है; उनकी जमीन छीन लेने के इरादे से उन्हें न मारना, जैसा कि फ्रांसीसियों,

रूसियों, और जर्मन लोगों की ओर से किया गया था; उन्हें सड़कों को नुकसान पहुंचाने के दण्ड-स्वरूप जिन्दा जमीन में न गाड़ देना, उनके बाल पकड़ कर उन्हें दूसरे के साथ में बांध न देना और उन्हें अमूर नदी में डुबो न देना, जैसा कि रूस वालों ने किया था।

"एक शिष्य अपने गुरु से बढ़ कर नहीं हो सकता × × उसके लिए इतनी ही काफी है कि वह अपने गुरु के जैसा हो जाय।"

उन पीली जाति के लोगों (मंगोलियनों) को; जिन्हें हम अपना शत्रु कहते हैं, प्रेम करने का अर्थ है उन्हें, ईसाई-धर्म के नाम पर, मनुष्य के पतन, मोक्ष और पुनरुत्थान इत्यादि के विषय में निरर्थक बातों की शिक्षा न देना, उन्हें दूसरों को धोखा देने और उनकी हत्या करने की कला की शिक्षा न देना, किन्तु न्याय, स्वार्थ-त्याग, दया और प्रेम आदि की शिक्षा देना, और वह भी केवल शब्दों से नहीं, किन्तु स्वयं अपने उदाहरण से।

जब यह सब बन्द हो जायगा उस समय वे लोग जिन्हें अबतक धोखे में डाला गया है और तरह-तरह से छला गया है, संभलेंगे और कहेंगे, "अच्छा, तो जाओ, तुम्हीं हृदय-हीन और अनीश्वर-वादी ज़ार, मिकाडो, राज-मन्त्रियों, धर्माधिकारियों, पुरोहितों सेना-पतियों, पत्र-सम्पादकों, तत्त्वविदों अथवा जो कुछ भी तुम कहे जाते हो, स्वयं जाओ और उन तोपों और बन्दूकों और बम के गोलों का शिकार बनो। हम लोग जाना नहीं चाहते और न हम लोग जायंगे। हमें शान्ति के साथ अपने खेत जोतने-बोने और मकान बनाने के लिए छोड़ दो, जिससे हम अपना और पर-धनोपजीवी तुम लोगों का भी भरण-पोषण कर सकें।" उनका यह कहना बिलकुल स्वाभाविक होगा।

× × ×

परन्तु नहीं, वे ऐसा नहीं कहते; वे जाते हैं; और वे जाते रहेंगे; उस समय तक उनके पास सिवाय चल देने के और कोई चारा ही नहीं है जबतक कि वे उस चीज को डरते हैं जो शरीर का नाश करती है, उस चीज का नहीं जो शरीर और आत्मा दोनों का नाश करती है।

स्त्री और पुरुष

(महात्मा टालस्टाय के पत्रों और डायरियों से उद्धृत)

स्त्री और पुरुष

स्त्री-पुरुषों के सहवास के सम्बन्ध में मैंने जहां तक हो सका 'क्रूजर सोनेटा' (नाम की पुस्तक) के उप-संहार (Afterword) में अपने विचार भली-भांति प्रकट कर दिये हैं। इस सारे प्रश्न का उत्तर एक शब्द में इस प्रकार दिया जा सकता है—मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत में, चाहे वह विवाहित हो अथवा अविवाहित, जहां तक वह रह सकता हो ब्रह्मचर्य से रहे, जैसा कि ईसा-मसीह ने और उनके बाद, महात्मा पाल ने बतलाया है। यदि वह आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर सकता है तो इससे अच्छा वह और कुछ कर ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह अपने-आपको रोक नहीं सकता, अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने में असमर्थ है, तो उसे चाहिए कि वह जहां तक हो सके, अपनी इस निर्बलता के बहुत कम वशीभूत हो, और किसी अवस्था में विषयोपभोग को आनन्द की वस्तु न समझे। मैं समझता हूं कोई भी गंभीर और सत्य-शील प्राणी इस प्रश्न का इससे भिन्न अन्य कोई उत्तर दे ही नहीं सकता; और ऐसे सभी मनुष्य इस उत्तर से सहमत हैं।

× × ×

दूसरा पत्र 'ऐडल्ट' के सम्पादक के पास से स्वच्छन्द प्रेम (Free love) के सम्बन्ध में आया है। यदि मेरे पास समय होता, तो इस विषय में मैं अवश्य लिखता। शायद मैं लिखूंगा भी। मुख्य बात तो यह बतला देना है कि इस मामले का सारा दारोमदार, बिना परिणाम को सोचे, यह समझ बैठने में है कि किसमें अधिक-से-अधिक सुख है।

अतिरिक्त लोग उस बात की शिक्षा देते हैं जो पहले से ही विद्यमान है और जो बहुत खराब है। तो फिर ऐसी दशा में जबकि मनुष्य पर कोई नियन्त्रण नहीं है इसके सुधार की सम्भावना कैसे हो सकती है? वास्तव में मैं इस सम्बन्ध में समस्त कानूनी व्यवस्थाओं का विरोधी हूं और चाहता हूं कि लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। केवल आदर्श ब्रह्मचर्य का हो, सुख और आनन्द का नहीं।

× × ×

स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध से, पारस्परिक अनुराग (आसक्ति) से उत्पन्न होने वाली सारी विपत्तियों का कारण यह है कि हम कामाभिलाषा को आध्यात्मिक जीवन के साथ, तथा—कहते रोमांच होता है—विशुद्ध प्रेम के साथ मिला देते हैं; हम अपनी विवेक-बुद्धि से इस कामाभिलाषा की निन्दा और उसको दबाने का काम नहीं लेते, किन्तु उलटा इस पर आध्यात्मिकता की कलई करते हैं।

× × ×

कामाभिलाषा का, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों का उद्गम है, हमारे लिए निवारण और नियन्त्रण करना तो दूर रहा, हम उलटा यथाशक्ति अधिक उत्तेजन देते रहते हैं। और इसके बाद यह शिकायत करते हैं कि हमें कष्ट है, दुःख पा रहे हैं।

× × ×

ईसाई मजहब में जीवन के भेद बतलाये गये हैं, परन्तु उसमें, मनुष्यों के पारस्परिक सभी सम्बन्धों में, आदर्श का—जीवन के उद्देश्य का वर्णन किया गया है। यही बात स्त्री-पुरुषों के सहवास सम्बन्धी प्रश्न के सम्बन्ध में भी है। परन्तु जिन लोगों में सच्चे ईसाई-धर्म के भाव नहीं हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन की व्याख्या चाहते हैं। उन लोगों के लिए "चर्च मैरेज" का आविष्कार किया गया है कि जिसमें कोई भी बात ईसाई-धर्म की नहीं पाई जाती। रति (संभोग) तथा ऐसी ही अन्य बातों में—जैसे हिंसा, क्रोध आदि—मनुष्य को चाहिए कि

वह कभी आदर्श को नीचा न करे और न कभी उसमें कोई रूपान्तर ही करे। किन्तु ठीक यही बात धर्माचार्यों (धर्म-गुरुओं) ने विवाह के सम्बन्ध में की है।

× × ×

संसार की कितनी लड़ाइयां हैं, उनमें कामाभिलाषा (मदन) के साथ होनेवाली लड़ाई सबसे ज्यादा कठिन है, और सिवाय प्रारम्भिक बाल्यावस्था तथा अत्यन्त वृद्धावस्था के, कोई भी ऐसी अवस्था अथवा समय नहीं है जिसमें मनुष्य इससे मुक्त हो। इसलिए किसी मनुष्य को इस लड़ाई से न तो कभी हताश होना चाहिए और न कभी ऐसी अवस्था की प्राप्ति की आशा करना चाहिए जिसमें उसका अभाव हो। एक क्षण के लिए भी किसी को निर्बलता न दिखानी चाहिए, किन्तु उन समस्त साधनों को एकत्र कर उनका उपयोग करना चाहिए जो इस शत्रु को निःशस्त्र बना देते हैं—उन बातों का परित्याग कर देना चाहिए जो शरीर और मन को उत्तेजित(दूषित) करने वाली हों और हमेशा काम करने में व्यस्त रहना चाहिए। यह तो हुआ एक मार्ग। दूसरा मार्ग यह है कि यदि तुम इस लड़ाई में विजयी नहीं हो सकते, तो विवाह कर लो—अर्थात् किसी ऐसी स्त्री को पसन्द कर लो, जो विवाह करने के लिए राजी हो, और अपने मन में इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लो कि यदि तुम अपना पतन रोक नहीं सकते तो तुम्हारा पतन इस स्त्री के साथ ही हो, इसी के साथ तुम अपनी सन्तान की यदि कोई हो, शिक्षा और लालन-पालन का प्रबन्ध करो, और उसी के साथ, उसका भरण-पोषण करते हुए तुम अपने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। इसमें जितनी ही शीघ्रता की जायगी उतना ही अच्छा है। मुझे और कोई दूसरा उपाय नहीं मालूम है। इन सब बातों के परे, इस अभिप्राय से कि इन दोनों उपायोंका प्रयोग सफलता के साथ कर सके, मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ करे—हमेशा इस बात को स्मरण रखे कि मनुष्य उस परम पिता परमेश्वर के

यहां से आया है और उसी के पास वापस जायगा और यह कि इस जीवन का सारा उद्देश्य और अर्थ उसी परमात्मा की आज्ञा का पालन करना, अर्थात् उसकी इच्छानुसार काम करना है।

जितना ही अधिक तुम उसकी याद करोगे, उतनी ही अधिक वह तुम्हारी सहायता करेगा।

एक बात और है। और वह यह कि यदि तुम्हारा पतन हो जाय तो कभी हताश मत हो। यह मत समझ लो कि तुम्हारा नाश हो गया —यह कि इसके बाद तुम्हें अब अपनी रक्षा करने की कोई जरूरत नहीं रही और अब तुम्हें अपनी कुछ भी परवाह न करनी चाहिए। किन्तु इस के विपरीत, यदि तुम्हारा पतन हो गया है तो तुम्हें और भी अधिक साहस के साथ इस लड़ाई में कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

× × ×

मैंने अक्सर 'प्रणय' की अवस्था के ऊपर विचार किया है, परन्तु मुझे इसके लिए कोई स्थान अथवा अर्थ मालूम न हो सका। तथापि इसका स्थान और इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट और निश्चित है। वे कामाभिलाषा (रति-सुख) और ब्रह्मचर्य के बीच होने वाली लड़ाई को कम करने में हैं। यह प्रणयावस्था, उन युवा स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकते, विवाद के पूर्व होनी चाहिए जिससे जीवन के सबसे नाजुक वक्त—सोलह वर्ष से लेकर बीस वर्ष अथवा इससे अधिक अवस्था तक—में इसे अत्यन्त कठिन संग्राम (लड़ाई) से उनकी रक्षा हो सके। यह समय 'प्रणय' अर्थात प्रेम करने का है। परन्तु जिस समय विवाह के पश्चात भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जीवन में इसका संचार होता है, तो वह बिलकुल बे-मौका और निन्द्य हो जाता है।

आप पूछते हैं कि इस कामकुत्ता (कामेच्छा) के साथ युद्ध करने के कौन-कौन से साधन हैं। छोटे-छोटे साधनों में जैसे परिश्रम करना, व्रत

करना इत्यादि। सब से अधिक प्रभावोत्पादक साधन है दरिद्रता, धन का अभाव, अर्थात् बाह्यतः निर्धन प्रतीत होना; जो एक ऐसी अवस्था है जिसमें यह स्पष्ट है, कोई मनुष्य किसी स्त्री के चित्त को आकृष्ट नहीं कर सकता। परन्तु मुख्य और सर्वोत्कृष्ट उपाय, जिसे मैं जानता हूं, निरंतर संग्राम करते रहना, अर्थात् इस बात का ज्ञान है कि यह संग्राम एक आकस्मिक अल्प-कालीन अवस्था नहीं किन्तु जीवन की एक स्थिर और अपरिवर्तनीय अवस्था है।

× × ×

मैं समझता हूं विवाह में सहवास (संभोग) एक आचार-विरुद्ध कर्म (व्यभिचार) नहीं है; परन्तु इस बात को प्रमाण के साथ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर कुछ अधिक ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहता हूं,क्योंकि इस कथन में भी कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि काम-पिपासा बुझाने के लिए अपनी धर्मपत्नी के साथ भी किया गया संभोग पाप है। मैं तो समझता हूं कि इंद्रिय-विच्छेद कर देना भी वैसा ही पाप-कर्म है जैसा कि विषय-सुख के लिए संभोग (रति) करना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मैं समझता हूं कि आवश्यकता से अधिक खा लेना अथवा अनशन व्रत करके या विष खाकर प्राण दे देना समान-रूप से ही पाप-कर्म हैं। जो भोजन मनुष्य को अपने अन्य भाइयों की सेवा करने के योग्य बनाता है, वह न्यायोचित भोजन है, और इसी प्रकार वह मैथुन भी न्यायोचित (जायज़) है जो सन्तानोत्पत्यर्थ (वंश चलाने के उद्देश्य से) किया जाता है।

षंढ (नपुंसक) लोगों का यह कहना सही है कि स्वपत्नी के साथ में किया गया संभोग भी आचार-विरुद्ध अर्थात् व्यभिचार है यदि वह बिना आध्यात्मिक (विशुद्ध) प्रेम के केवल विषय-सुख के लिए और इसलिए नियत समय के ऊपर न किया गया हो, परन्तु उसका यह कहना सर्वथा अनुचित और भ्रम-मूलक है कि सन्तानोत्पत्यर्थ और विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के होते हुए किया गया मैथुन भी पाप है। वास्तव

में यह पाप नहीं किन्तु ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है।

इन्द्रिय-विच्छेद मेरी सम्मति में बिलकुल ऐसा है:—मान लीजिए कि एक मनुष्य दुराचार-मय (आवारगी का) जीवन व्यतीत करता रहा है, और अपने गल्ले से शराब बनाने और पीने का आदी हो गया है; और अब वह इस बात का अनुभव करने लगा है कि वह गलती पर है और पाप कर रहा है। बजाय इसके वह इस आदत को छोड़ दे और इस गल्ले (अनाज) को अच्छे काम में, जैसे मनुष्यों और पशुओं की सेवा में, लाना सीख ले, वह यह तय करता है कि उसके इस पाप से बचने का एक-मात्र उपाय यह है कि वह अपना वह सारा अनाज जला दे, और वह ऐसा ही करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका पाप उसके अन्दर जैसा-का-तैसा ही बना रहता है, उसके पड़ौसी लोग पहले की भांति ही मदिरा और आसव तैयार करते रहते हैं, परन्तु वह न तो अपने परिवार को भोजन दे पाता है, न खुद खा पाता अथवा दूसरों को खिला पाता है।

बिना कारण ही ईसा-मसीह ने यह कह कर छोटे-छोटे बालकों की प्रशंसा नहीं की है कि ईश्वर का साम्राज्य उन्हीं का है, और जो बातें बुद्धिमान और परिणामदर्शी मनुष्यों से गुप्त रखी जाती हैं, वे उनपर प्रकट कर दी जाती हैं। इस बात को हम स्वयं भी जानते हैं। यदि छोटे-छोटे बालक न होते, यदि उनका पैदा होना बन्द हो जाता तो पृथ्वी-तल पर ईश्वर के साम्राज्य की कोई भी आशा न रह जाती। केवल उन्हीं में हमारी आशा है। हम पहले से ही पंक-सिक्त (कलुषित) हो गये हैं, और अब हमारी शुद्धि होना कठिन है। परन्तु प्रत्येक प्रसव के साथ प्रत्येक परिवार में नित नई निष्पाप और पवित्र आत्माएं जन्म लेती हैं जो सदैव ऐसी ही शुद्ध और पवित्र बनी रह सकती हैं। नदी का जल बिलकुल मलिन और पंकिल हो गया है, परन्तु बहुत से शुद्ध और निर्मल जल स्रोतों का उसमें प्रवाह होता है और इसलिए यह

आशा की जाती हैं कि नदी का जल एक बार फिर शुद्ध और निर्मल अवश्य हो जायगा।

× × ×

मनुष्य के अन्दर काम-वासना का होना इस बात के प्रयत्न का द्योतक है कि यदि कोई मनुष्य सारे ईश्वरीय कानून का पालन नहीं कर पाता है, तो उसके लिए इस बात की निश्चय संभावना है कि उसके वंशज (पुत्र-पौत्रादि) उसको अवश्य पूरा कर सकेंगे। इस बात की सत्यता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत अनुभव से भी प्रमाणित होती है। जितना ही अधिक मनुष्य इस कानून की पूर्णता के निकट पहुंचता जाता है, उतना ही अधिक वह इस काम-वासना से मुक्त होता जाता है। ऐसा ही इसके विपरीत भी है।

यदि लोगों का झुकाव रति (मैथुन) की ओर होता है, तो इसका कारण केवल यह है कि वे उस पूर्णता की प्राप्ति को आगे आनेवाली दूसरी सन्तान के लिए संभव बनाना चाहते हैं जिसको वर्तमान समय के लोग प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में परमात्मा की बुद्धि कैसी विचित्र है! मनुष्य के लिए पूर्णता प्राप्त करना अत्यावश्यक है, जैसा कि बाइबिल में कहा गया है—"तू वैसा ही पूर्ण (निर्दोष) बन जैसा कि स्वर्ग-स्थित तेरा पिता परमेश्वर निर्दोष है।" पूर्णता (सिद्धि अथवा निर्दोषता) प्राप्त करने का मुख्य साधन ब्रह्मचर्य है—सच्चा ब्रह्मचर्य जिसका सम्बन्ध केवल बाह्य कर्मों से ही नहीं वरन् आत्मा से भी है, अर्थात काम-वासना से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेना। यदि कभी मनुष्य पूर्णता (सिद्धि) को प्राप्त हो जायं और ब्रह्मचारी बन जायं तो मानव-सन्तति की वृद्धि रुक जायगी और संसार में उसके जीवन का कोई लक्ष्य न रह जायगा, क्योंकि सारा मनुष्य-समाज देव-दूत-तुल्य हो जायगा, जो कभी विवाह नहीं करते, जैसा कि इंजील में बतलाया गया है। परन्तु जबतक मनुष्यों को पूर्णता (सिद्धि) प्राप्त नहीं होती, तबतक वे नई सन्तानें उत्पन्न करते रहते हैं, और ये नई सन्तानें पूर्णता प्राप्त करती हैं और

उन बातों को प्राप्त करती हैं जिनका परमेश्वर की ओर से आदेश मिला है, और मनुष्य पूर्णता (सिद्धि) के अधिकाधिक निकट पहुंचता जाता है।

× × ×

प्रत्येक युवा पुरुष को, जो अच्छा जीवन बिताने का इच्छुक है, चाहिए कि वह अपना विवाह अवश्य कर ले, परन्तु मनुष्य को किसी भी दशा में प्रेम के वशीभूत होकर विवाह नहीं करना चाहिए, किन्तु भली प्रकार हिसाब लगाकर ऐसा करना चाहिए। यहां इन प्रेम और हिसाब दोनों शब्दों का अर्थ उस अर्थ के ठीक विपरीत लेना चाहिए जिसमें साधारणतः इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

सारांश यह, कि किसी मनुष्य को विषाक्त प्रेम से प्रेरित होकर नहीं किन्तु हिसाब लगाकर—इस बात का नहीं कि वह कहां पर और किस प्रकार रहेगा (क्योंकि हम सब लोग कहीं-न-कहीं और किसी-न-किसी प्रकार रहने का प्रबन्ध कर ही लेते हैं) किन्तु इस बात का, कि उसका भावी साथी उसको मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने में कहां तक सहायता दे सकता है अथवा कहां तक उसके इस कार्य में बाधक हो सकता है।

× × ×

हां, मैं समझता हूं विवाह की व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध है। ईसा ने कभी विवाह नहीं किया, और न उनके शिष्यों ने ही अपना विवाह किया, और उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में कभी कोई व्यवस्था नहीं दी, परन्तु आदमियों से अपील करते हुए, जिनमें के कुछ लोग तो विवाहित थे और कुछ अविवाहित, उन्होंने विवाहितों से कहा कि तुम्हें अपनी धर्म-पत्नियां न बदलनी चाहिए, जैसा कि तुम हजरत मूसा के कानून के अनुसार कर सकते हो (Matt. v. 32) और अविवाहितों से उन्होंने कहा कि, यदि तुमसे हो सके तो अच्छा हो कि तुम अपना विवाह मत करो (Matt. xix. 10-12);

और इन दोनों से उन्होंने यह कहा कि, याद रखो स्त्रियों को विलासिता की वस्तु समझ लेना महापाप है। (Matt v. 28) [उसमें यह नहीं बतलाया है कि यही बात स्त्रियों की ओर से पुरुषों के, प्रति भी समझनी चाहिए]।

इन बातों से स्वभावतः नीचे लिखा निष्कर्ष निकलता है, जो बिलकुल व्यावहार्य्य है:—

यह न समझ लेना चाहिए, जैसा कि इस समय लोग करते हैं, कि प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, अपना विवाह कर लेना चाहिए; परन्तु इसके विपरीत यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य के लिए, फिर चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, यह आवश्यक है कि वह पवित्र (आत्म-शुद्धि) बना रहे, जिससे कोई भी वस्तु मनुष्य को अपनी सारी शक्ति ईश्वर की उपासना में लगा देने से रोक न सके।

यदि किसी मनुष्य का, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, पतन हो जाय (अर्थात् उसका किसी स्त्री अथवा पुरुष से ताल्लुक हो जाय) तो ऐसा न समझ लेना चाहिए, जैसा कि इस समय समझा जाता है, कि यह एक ऐसी भूल है जिसका प्रतिकार वह किसी अन्य व्यक्ति के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ कर सकता है, अथवा यह कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किया गया ऐसा काम है जिसके लिए वह क्षमा किया जा सकता है; किन्तु किसी व्यक्ति के साथ में जोड़े गये पहले शारीरिक सम्बन्ध (जिन्सी रिश्ता) को एक सुदृढ़ (दुर्भेद्य) वैवाहिक सम्बन्ध समझ लेना चाहिए जिसका कभी विच्छेद नहीं हो सकता (Matt. xix. 4-6), और जिससे उन दोनों (स्त्री-पुरुषों) के ऊपर एक-एक खास जिम्मेदारी हो जाती है जो किसी किए हुए पाप-कर्म से मोक्ष का काम करती है।

विवाह को अपनी कामेन्द्रिय-तृप्ति के लिए दी गई आज्ञा नहीं, जैसा कि इस समय समझा जाता है, वरन् एक ऐसा पाप-कर्म समझ

लेना चाहिए जिसके प्रतिकार की आवश्यकता है।

इस पाप का प्रतिकार इस बात में है कि, स्त्री और पुरुष दोनों विषयाशक्ति से अपने-आपको मुक्त कर लें, और इसमें तथा जहां तक सम्भव हो, अपने प्रेमी और प्रेमिका नहीं वरन् भाई और बहन के जैसे पारस्परिक सम्बन्ध को कायम रखने में एक दूसरे की सहायता करें। और दूसरे, इस विवाह से उत्पन्न सन्तति को जो ईश्वर के भावी सेवक हैं, सुशिक्षित बनावें।

इस प्रकार के विवाह में तथा उस विवाह में जो इस समय जारी है, बहुत बड़ा अन्तर है। लोग अब भी बराबर विवाह करते रहेंगे, माता-पिता अपने लड़के-लड़कियों के विवाह का अब भी प्रबन्ध करते रहेंगे। परन्तु इस विवाह में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है, जिस समय इन्द्रियों की तृप्ति करना उचित, धर्म-शास्त्रानुकूल, और संसार का सबसे बड़ा सुख समझा जाता है—अथवा जिस समय वह पाप समझा जाता है। एक ईसु-धर्मानुयायी मनुष्य केवल उसी समय विवाह करेगा जिस समय वह समझता है कि उसके लिए कोई दूसरा चारा नहीं है; और विवाह कर चुकने के बाद वह विषय-वासना में लिप्त न हो जायगा, किन्तु वह (पुरुष और स्त्री दोनों) उसके दमन करने का ही प्रयत्न करता रहेगा। अपनी सन्तान के आध्यात्मिक कल्याण की इच्छा रखने-वाले माता-पिता अपने हर एक बच्चे का विवाह कर देना अनिवार्य न समझेंगे, वरन् उनका विवाह केवल उसी समय करेंगे—अर्थात् उनके पतन में सहायक होंगे या उसकी सलाह देंगे—जिस समय वे देखेंगे कि उनमें (लड़के-लड़कियों में) आत्म-निग्रह करने की सामर्थ्य नहीं है, और जिस समय यह स्पष्ट हो जायगा कि उनके लिए निर्वाह का अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिन लोगों का विवाह हो गया है, वे जैसा कि इस समय के लोग करते हैं, अधिकाधिक सन्तान की इच्छा न करेंगे, किन्तु इसके विपरीत अपना जीवन शुद्ध और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हुए इस बात में प्रसन्न होंगे कि उनके बहुत कम सन्तान हैं, और

यह कि वे अपनी सारी शक्ति अपने बच्चों की शिक्षा में, जो उन्हें अब तक पैदा हुए हैं, तथा दूसरे लोगों के उन बच्चों की सहायता और शिक्षा में व्यय कर सकते हैं जिनकी सहायता वे कर सकते हैं, यदि वे परमेश्वर के भावी सेवकों की शिक्षा-द्वारा उस परम पिता की सेवा करना चाहते हैं।

यह अन्तर वैसा ही होगा जैसा कि उन आदमियों में जो भोजन केवल इसीलिए करते हैं कि बिना इसके उनका काम चल ही नहीं सकता और इसलिए उसके तैयार करने में और खाने में जितना कम समय लग सकता है लगाते हैं तथा उन आदमियों में है जो केवल खाने के लिए ही जीते हैं और इसलिए नाना प्रकार के भोजनों का आविष्कार करना, उसकी सामग्री जुटाना, भूख का बढ़ाना और अधिकाधिक मात्रा में भोजन करना ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझते हैं, जैसा कि उन रोमन लोगों ने इसे अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था जो एक बार भोजन कर चुकने के बाद वमन-कारक औषधि खा लेते थे जिससे दूसरी बार फौरन् ही फिर खा सकें।

× × ×

'क्रिश्चियन' विवाह की प्रथा न कभी थी और न कभी हो सकती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कभी 'क्रिश्चियन' प्रापर्टी (ईसाई-सम्पत्ति) अथवा अन्य ऐसी ही वस्तुएं नहीं रही हैं। परन्तु जैसा कि सम्पत्ति के सम्बन्ध में है विवाह के सम्बन्ध में भी ईसाई-वृत्ति (Christian relation) अवश्य है।

सम्पत्ति के साथ एक ईसाई का सम्बन्ध यह है कि, यद्यपि मैं अपनी कमीज को अपनी निजी सम्पत्ति समझता हूं तथापि जिस समय कोई दूसरा मनुष्य मुझसे मांगे उस समय उसे दे देना भी मैं जरूरी समझता हूँ। ठीक उसी प्रकार विवाह के सम्बन्ध में भी एक ईसाई की वृत्ति ऐसी ही है कि उसका यह संयोग (union) एक बिलकुल शास्त्रविहित अपरिवर्तनीय वैवाहिक बन्धन है, और इस विवाहितावस्था

में वह और उसकी धर्म-पत्नी दोनों सदैव दो बातों के लिए प्रयत्न करते रहते हैं:—प्रथम तो ईश्वर के सम्मुख अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षा देना; और दूसरे अपनी काम-वासना की इस निर्बलता को यथा-शक्ति दूर करने और शारीरिक अनुराग के स्थान पर आध्यात्मिक अनुराग के सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न करते रहना।

यदि मनुष्य केवल इतनी बात अच्छी तरह और साफतौर से समझ ले कि कामेन्द्रिय की तृप्ति करना एक नैतिक पतन और पाप है, और किसी एक स्त्री के साथ ताल्लुक हो जाना एक ऐसी बात है, जो तोड़ा नहीं जा सकता और जो उस पाप का प्रायश्चित्त है, तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार को ही सामने रखकर मानव-समाज के अन्दर ब्रह्मचर्य की वृद्धि हो सकती है।

जिस समय मैं यह बतलाता हूं कि विवाहित मनुष्यों को किस प्रकार रहना चाहिए, तो इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मैं स्वयं वैसा ही रहा हूं या इस समय रहता हूं जैसा कि मुझे रहना चाहिए था। इसके विपरीत मैं स्वयं अपने अनुभव से इस बात को निश्चय रूप से जानता हूं कि मनुष्य का जीवन कैसा होना चाहिए, केवल इस लिए कि मेरा जीवन ऐसा रहा है जैसा कि किसी मनुष्य का नहीं होना चाहिए।

मैं अपनी पहले कही हुई किसी बात को वापस नहीं ले रहा हूं; किन्तु जो कुछ मैंने कहा है उसको और जोर के साथ कहता हूं। परन्तु यह बात सच है कि इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता इसलिए है हमारा जीवन उस आदर्श से इतना दूर है जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन का होना चाहिए (जैसा कि हमारी अन्तरात्मा को स्वयं अनुभव होता है और जैसा कि ईसा-मसीह ने बतलाया है) कि इस सम्बन्ध में सत्य बात को सुनकर हम चौंक पड़ते हैं (इस बात को मैं स्वयं अपने अनुभव से जानता हूं) ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक धर्म परायण व्यापारी जो खूब धन जमा कर रहा है, इस बात को

सुनकर चौंक पड़ेगा कि किसी मनुष्य को अपने परिवार के लिए धन जमा न करना चाहिए और न गिर्जा-घरों के लिए घण्टे बनवाने चाहिए किन्तु पाप से मुक्ति पाने के लिए उसे चाहिए कि वह अपना सर्वस्व दान कर दे।

इस विषय में मैं जो कुछ सोचता हूं उसे नीचे लिख देता हूं। यद्यपि उनमें कोई भ्रम नहीं है—

यह 'प्रणय' का भाव—जो मनुष्य को अपनी पूर्ण-शक्ति के साथ वश में किये हुए है—उन दो स्त्री-पुरुषों में उत्पन्न होता है जिनमें अभी तक परस्पर समागम नहीं हुआ है। इसी प्रणय-भाव से प्रेरित हो कर ही लोग विवाह करते हैं;' और इस विवाह का परिणाम यह होता है कि उन को संतान उत्पन्न होती है। गर्भावस्था का समय आरम्भ होता है और इस कारण पति और पत्नी के बीच परस्पर सहवास (रति) की इच्छा कम होने लगती है–यह एक ऐसी शिथिलता है जो बिलकुल स्पष्ट हो सकती है और सहवास को एक-दम रोक सकती है, जैसा कि पशुओं में होता है, यदि मनुष्य ऐसे सहवास को एक न्यायोचित और आनन्द की वस्तु न समझता होता। इस शिथिलता से बालक के लालन-पालन और उनकी वृद्धि के लिए समय मिलता है और जबतक बालक दूध पीना छोड़ नहीं देता तबतक यह क्रम बना रहता है और सहवास का यह शैथिल्य जारी रहता है; और एक उच्च-कोटि के विवाहित जीवन में (यहीं पर मनुष्यों तथा पशुओं में भेद हो जाता है) उन्हीं व्यक्तियों के अन्दर परस्पर फिर एक-दूसरे के प्रति प्रेम का आकर्षण होता है।

हम इससे चाहे कितना भी दूर क्यों न रहें, इसमें सन्देह नहीं कि यह एक ऐसी बात है जो वास्तव में होनी चाहिए। और यही कारण है कि प्रथम तो जिस समय गर्भाधान असम्भव होता है (अर्थात् जिस

'अभी भारत में ऐसा नहीं है। —संपा०

समय स्त्री गर्भिणी होती है) उस समय रति-क्रिया कोई उपयुक्त अर्थ नहीं रखती और वह केवल विषय-सुख (कामेन्द्रिय की तृप्ति) को छोड़ और कुछ भी नहीं है जो एक बहुत ही कुत्सित और लज्जा-जनक कर्म है, जैसा कि प्रत्येक विचारवान् एवं शुद्ध-मति मनुष्य पर प्रकट है। यह एक ऐसा घृणित कर्म है जिसकी तुलना काम के वशीभूत हो नीचातिनीच प्रकृति-विरुद्ध मैथुन आदि से की जासकती है। इस प्रकार की विषय-वासना में लिप्त मनुष्य पशु से भी अधिक विवेकहीन (निर्बुद्धि) हो जाता है, क्योंकि वह अपनी बुद्धि का प्रयोग बुद्धि के ही नियमों (कानून) का उल्लंघन करने में करता है। दूसरे, सब लोग इस बात को जानते और मानते हैं कि रति-क्रिया (मैथुन) से मनुष्य निर्बल और निस्तेज हो जाता है, यहां तक कि उसकी सार-भूत मानवीय शक्ति (आत्म बल) भी निर्बल हो जाती है। इस सम्बन्ध में लोगों के वर्तमान आचार का समर्थन करने वाले यह कहेंगे कि 'परिमित' अर्थात नियमन से काम लेना चाहिए। (जैसा कि आयुर्वेदाचार्यों ने कहा है—अनुवादक); परन्तु जिस समय बुद्धि-प्रतिपादित नियमों का ही उल्लंघन किया जाता है उस समय वास्तविक 'परिमितता' हो ही नहीं सकती। हां 'परिमित' से (इस विषय में इस शब्द का भी उच्चारण करना कितना दुःखद प्रतीत होता है) काम लेते समय असंयम (व्यभिचार) से मनुष्य को पहुंचाने वाली हानि की मात्रा में कमी हो सकती है। (सिवाय उस समय के, जब कि स्त्री गर्भवती है रति करना असंयम (या व्यभिचार) है, यदि मनुष्य एक पत्नी-व्रत हो, अर्थात् एक स्त्री को छोड़ अन्य किसी को न जाने। परन्तु पति के लिए जो नियम है, वही पत्नी के लिए व्यभिचार है जिस समय कि वह गर्भवती हो अथवा शिशु-पालन बालक का लालन-पालन करने में लगी हो।

मैं समझता हूं कि स्त्रियों के इस कदर पिछड़े होने तथा उनमें मूर्छा आदि भयंकर रोगों के होने का कारण मुख्यशः यही है। यही बात है

जिससे स्त्रियों को बचाने की आवश्यकता है, जिससे वे पुरुष की सच्ची सहचरी बन सकें, उसके समान ही उन्नति कर सकें और शैतान की नहीं वरन् ईश्वर की सच्ची सेविका (उपासिका) बन सकें। यह एक दूरवर्ती किन्तु ऊंचा आदर्श है। तो फिर क्या कारण है कि मनुष्य इसके लिए प्रयत्न नहीं करता।

मैं इस विषय का एक मानसिक चित्र खींचता हूं कि विवाह इस प्रकार का होना चहिए। एक स्त्री और एक पुरुष परस्पर एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं यहां तक कि वे अपने-आपको संभाल नहीं सकते और उनमें समागम हो जाता है, एक बालक भी उत्पन्न हो जाता है, और वे दोनों, (पति-पत्नी) उन तमाम बातों से दूर रहते हुए जो कि उस बालक की वृद्धि और उसके पोषण में बाधा पहुंचाती हों, तमाम विषय-वासनाओं एवं शारीरिक प्रलोभनों से दूर रहते हुए, उनको उत्पन्न करते और बढ़ाते हुए नहीं, जैसा कि इस समय हो रहा है, भाई और बहन की भांति रहते हैं। इस समय यह होता है कि पति जो पहले से ही भ्रष्ट-चरित्र हो चुका है, अपनी इन कुवासनाओं का संचार अपनी पत्नी में करता है, उसमें भी विषय-वासना का विष फैलाता है, और उसे एक ही साथ एक रमणी, एक अवसन्न-गात्र माता तथा एक रोग-ग्रस्त, चिड़चिड़ी और क्षीण-काय मूर्च्छावान व्यक्ति का-सा जीवन बिताने का असह्य भार बहन करने के लिए विवश करता है। वह पति रमणी की अवस्था में उसे प्यार करता है, एक माता की अवस्था में उससे दूर रहता है और उसके उग्र-स्वभाव तथा मूर्च्छा-रोग के कारण, जिनको उसीने पैदा किया है और कर रहा है, उससे घृणा करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यही उन समस्त दुःखों की कुंजी है जो अधिकांश परिवारों में अन्तर्हित (छिपे हुए) हैं। इसी प्रकार मैं उन स्त्री-पुरुषों (पति और पत्नी) का चरित्र-चित्रण करता हूं जो भाई और बहन की भांति रहते हैं। जिस समय वह प्रशान्तावस्था में (गर्भवती) होती है, वह बालक जनती है, बिना किसी विघ्न-बाधा के उसका भरण-

पोषण और लालन-पालन करती है, और साथ ही इसके उसे नैतिक शिक्षा भी देती है; और केवल उस समय जब कि वह गर्भ से मुक्त होती है, फिर वे परस्पर प्रेम करते हैं (आसक्त होते हैं)। यह अवस्था लगभग एक सप्ताह के रहती है, और इसके बाद फिर शान्ति हो जाती है।

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आसक्ति (Being in love) वह बाष्प-शक्ति है जो सारे यन्त्र (एंजिन) को विदीर्ण कर सकती है, यदि रक्षण-कपाट(Safety Valve) काम न करें। यह ढक्कन(कपाट) केवल उसी समय खुलता है जब उस पर बहुत बड़ा दबाव पड़ता है; बाकी वक्तों में वह बड़ी मजबूती और तर्कीब के साथ बन्द रहता है। इसलिए हमारा काम यह होना चाहिए कि हम उस पर जितना दबाव डाल सकते हैं डाल कर उसे जितना मजबूत हो सके बन्द रखें, जिससे वह खुल न सके। यही भाव है जिसमें हम इस वाक्य को समझते हैं, "वह जो इसके ग्रहण करने की योग्यता रखता है, उसको हो इसे प्राप्त होने दो" (He that is able to receive it let him receive (Matt XIX-12) सारांश यह है कि, प्रत्येक मनुष्य को विवाह न करने का ही प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जिस समय वह विवाह कर चुके तो अपनी स्त्री के साथ वैसे ही रहे जैसे भाई और बहन रहते हैं। वाष्प-शक्ति का संचय होगा। कपाट (ढक्कन) ऊपर उठेंगे (खुलेंगे) किन्तु हमें उन्हें स्वयं नहीं खोलना चाहिए, जैसा कि हम उस समय करते हैं जब रति-क्रिया को धर्म-विहित सुख की वस्तु समझते हैं। इसकी आज्ञा केवल उसी समय है जब हम अपने-आपको संभाल न सकते हों, और जिस समय वह हमारी इच्छा के विरुद्ध स्फुटित हो निकले।

"परन्तु कोई मनुष्य इस बात का निर्णय कैसे कर सकता है कि किस समय वह आत्म-निग्रह नहीं कर सकता (अपने-आपको संभाल नहीं सकता)।"

इस तरह के कितने ही प्रश्न सुनने में आते हैं और उनके उत्तर

कितने असंभव प्रतीत होते हैं ? और तो भी वे कितने सरल हैं, जब कोई मनुष्य अपने लिए आप उन्हें हल करता है, दूसरों के लिए दूसरे लोग हल नहीं करते । दूसरों के लिए हल करने में मनुष्य केवल थोड़ी दूर तक पहुंच पाता है । एक वृद्ध पुरुष एक वेश्या के साथ प्रेम करने लगता है और उसके साथ खूब रब्त-जब्त बढ़ाता है—यह कितना घोर निंद्य कर्म है; एक युवा पुरुष भी ऐसा ही करता है—यह उसकी अपेक्षा कम निन्द्य है । एक वृद्ध पुरुष काम के वशीभूत होकर विवाह के लिए किसी स्त्री से अनुराग करता है—यह काम भी निन्द्य है किन्तु एक युवा पुरुष के किसी वेश्या के साथ अनुराग करने की अपेक्षा कम निन्द्य है । एक युवा पुरुष स्त्री के साथ कामासक्त होकर प्रेम करता है—यह अपेक्षाकृत कुछ कम निन्द्य है, यद्यपि अप्रिय यह भी अवश्य है । ऐसा क्रम दूसरों के सम्बन्ध में भी है, और हम सब लोग इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं । विशेषकर युवा पुरुष और वे बालक जिनका चरित्र अभी निष्कलंक है । परन्तु एक मनुष्य के लिए एक दूसरा भी विचार है । ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले प्रत्येक पुरुष और स्त्री को यह ज्ञात है (यद्यपि मिथ्या भावनाओं में पड़कर उसका यह ज्ञान कभी-कभी निष्प्रभ हो जाता है) कि पवित्रता की कद्र करनी चाहिए, यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर उसके बनाये रखने की अभिलाषा होती है, और यदि किसी दशा में वह नष्ट हो जाय तो इससे कितना संताप और लज्जा होती है । अन्तःकरण से बराबर एक आवाज आती रहती है, जो पद-स्खलित होने के बाद और हमेशा लोगों को स्पष्ट-रूप से यह बतलाया करती है कि यह अनुचित और लज्जास्पद बात है । (यह सब मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि पर निर्भर करता है ।)

संसार में काम-वासना से प्रेरित हो किसी से प्रेम करना (इश्क-बाजी) एक बहुत अच्छी चीज समझा जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रक्षण-कपाट (Safety Valve) का खोल देना और भाप का

निकाल देना समझे जा सकते हैं। परन्तु ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार, केवल शुद्ध और पवित्र जीवन व्यतीत करना, अपनी बुद्धि को ईश्वरोपासना में लगाना अर्थात् मनुष्यों से उनकी आत्माओं, तथा उन सब में सबसे पहली और सबसे नजदीकी आत्मा—अपनी धर्म-पत्नी से प्रेम करना, उसको सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देना, उसको अपनी कामाग्नि बुझाने का साधन-मात्र बनाकर उसके बुद्धि और बल का दुरुपयोग न करना ही एक शुद्धि और पवित्र एवं उत्तम कर्म है। सारांश यह, कि उस बाष्प-शक्ति (स्टीम) का प्रयोग काम करने के लिए ही किया जाय, और उसको स्फुटित होने (निकल जाने) से रोकने के लिए जितना प्रयत्न हो सके किया जाय।

"परन्तु ऐसा करने से तो मानव-सृष्टि का अन्त हो जायगा।"

सर्वप्रथम तो, लोग स्त्री-पुरुषों के इस संसर्ग को रोकने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करें, ये रक्षण-कपाट (Safety Valve) उस समय तक बने ही रहेंगे जबतक कि उनकी आवश्यकता है, और इसलिए बच्चे पैदा ही होते रहेंगे। इसके भी अलावा हमें झूठ बोलने की क्या आवश्यकता? क्या जिस समय हम स्त्री-पुरुषों के समागम (रति-क्रिया) का समर्थन करने लगते हैं उस समय सचमुच हम सन्तान उत्पन्न करने के लिए उत्सुक होते हैं? हमें तो अपने आनन्द (मजे) का ही खयाल होता है। और हमें साफ-साफ ऐसा ही कह देना चाहिए। क्या मानव-सृष्टि का क्रम रुक जायगा? क्या मनुष्य-तनु-धारी प्राणी का इस संसार में नाम-निशान न रह जायगा? यह सब कैसी हृदय-विदारक और मर्म-भेदी बातें हैं! विश्व-प्रलय से पूर्व के प्राणियों का कोई अस्तित्त्व नहीं रहा है, और उसी प्रकार यह निश्चय है कि मानव-सृष्टि का भी कोई न रह जायगा (यदि अमरता और अनंतता का विचार किया जाय)। इसका नाश भले ही हो जाय, पर यदि सच्चे प्रेम और प्रेमियों का अन्त न होगा तो मुझे मनुष्य-नाश पर उतना ही दुःख होगा जितना उन अनेक प्राणियों के नाश पर होता है जो

एक समय इस पृथ्वी पर थे। और यदि मनुष्यों के विषय-सुख का परित्याग कर देने के कारण मानव-सृष्टि का लोप भी हो जाय, तो इस सच्चे प्रेम का अन्त न होगा वरन्, इसके विपरीत, उसकी वृद्धि इस अपरिमित परिणाम में हो जायगी कि जो प्राणी इस सच्चे प्रेम का अनुभव करते हैं उनके लिए सृष्टि की कोई आवश्यकता ही न रह जायगी।

शारीरिक प्रेम (विषाक्त प्रेम) की आवश्यकता केवल इसी काम के लिए है—यह कि मनुष्य के लिए यह संभावना बनी रहे कि वह उन्नति करके इन श्रेष्ठतर प्राणियों के पद को प्राप्त कर सके।

इन तमाम बातों को, जो मैं बिना क्रम से ऊपर कह आया हूं, पढ़ जाइए और सोचिए, जो कुछ मैं कहना चाहता था और जो कुछ मैंने कहा होता, किन्तु कह नहीं सका। ये विचार अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुए—उनकी उत्पत्ति और परि-पुष्ट मेरे अनुभव और जीवन से हुई है, और यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं आगे चल कर इनको बहुत साफ-साफ और स्पष्टता के साथ प्रकट करने का प्रयत्न करूंगा।

पशु केवल उसी समय मैथुन करते हैं जब बच्चा पैदा करना होता है। पर अज्ञानी मनुष्य, जैसे कि हम लोग हैं, हमेशा मैथुन करता रहता है, और उसने इस मत का भी आविष्कार कर लिया है कि यह एक आवश्यकता है। और इस आविष्कृत आवश्यकता (अपनी ओर से उत्पन्न की गई आवश्यकता) से वह गर्भ तथा शिशु-पालन की अवस्था में भी स्त्री को अपनी रमणी बनने के लिए विवश करता है, (जो शरीर को अत्यधिक श्रान्त कर देने वाला और अस्वाभाविक है) और उसके जीवन का सत्यानाश करता है। हम लोगों ने स्वयं अपनी ऐसी मांगों से स्त्रियों की विवेक-शक्ति का और उनके स्वधर्म का नाश कर दिया है, और इसके बाद हम उनकी बुद्धि-हीनता की शिकायत करते हैं अथवा किताबों और विश्व-विद्यालयों से उनका उपचार कर उनको उन्नत बनाना चाहते हैं, उनका सुधार करना

चाहते हैं। प्राणि-जीवन में मनुष्य पशु से भी गया-बीता हो गया है। अतः उसे यत्न-पूर्वक उस प्राणी-जीवन के समतल पर पहुंचाना होगा। और जिस समय बुद्धि-युक्त जीवन का आरम्भ हो जाता है, उस समय वह आपसे-आप ही प्राणी-पद को प्राप्त हो जाता है; अन्यथा, उसकी विवेक-बुद्धि का झुकाव उसके विकृत पाशविक जीवन की ओर हो जाता है।

मनुष्य और उसकी स्त्री (धर्म-पत्नी) के बीच रति-सम्बन्धी प्रश्न अर्थात वह कहां तक उचित है—व्यावहारिक ईसाई-धर्म के प्रश्नों में सबसे अधिक महत्त्व रखता है, जो संपत्ति-सम्बन्धी प्रश्न के समान है। वह अब भी मेरे दिमाग में चक्कर काट रहा है। इस प्रश्न का उत्तर इंजील में दिया गया है। इस सम्बन्ध में ईसा ने जो निर्णय दिया है उससे हमारा जीवन इतना दूर है कि हम उसके अनुसार कार्य करना तो ठीक, उसे ठीक-ठीक समझ भी नहीं सकते। बाइबिल के मैथ्यू खंड के अध्याय १९ के पैरा ११ और १२ में कहा गया है, "परन्तु उसने उनसे कहा कि सब लोग इस वचन को ग्रहण नहीं कर सकते, सिवाय उन लोगों के कि जिनके लिए वह कहा गया है (जिनको वह दिया जाता है ?)। क्योंकि कुछ षंढ अपनी माता के गर्भ से ही (नपुंसक) उत्पन्न हुए हैं; और कुछ लोगों ने स्वर्ग के साम्राज्य के लिए अपने-आपको क्लीब बना डाला है। जो इसके प्राप्त (ग्रहण) करने के योग्य है उसे ही प्राप्त करने दो।"

क्या कारण है कि इस वाक्य का इतना और ऐसा गलत अर्थ किया गया है ? उसके मानी तो साफ हैं। यदि मनुष्य पूछता है कि काम-शक्ति (काम-प्रवृत्ति) के सम्बन्ध में उसे क्या करना चाहिए ? उसे किस बात की अभिलाषा करनी चाहिए ? (अपनी आधुनिक भाषा में) मनुष्य के लिए आदर्श क्या है ? तो वह उत्तर देता है—"स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए नपुंसक—विषय-विमुख—बन जाओ। और जिस मनुष्य को इसकी प्राप्ति हो जाती है, और जिसको इसकी प्राप्ति नहीं

होती, उसके लिए भी यह अच्छा होगा कि वह उसके लिए प्रयत्न करे। जो इसके प्राप्त करने के योग्य है उसे ही प्राप्त करने दो।"

मैं समझता हूं कि मनुष्य के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री दोनों पूर्ण ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करने का उद्योग करते रहें, और इसके पश्चात् उनके लिए इसका वही परिणाम होगा जो होना चाहिए। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जब मनुष्य आवश्यकता से अधिक प्रयत्न करेगा तब वह आवश्यक उच्चता तक पहुंच सकेगा। परन्तु यदि इसके विपरीत मनुष्य जान-बूझ कर शारीरिक सम्बन्ध के लिए ही प्रयत्न करता रहेगा, जैसा कि इस समय हम लोगों में होता है, चाहे वह विवाह के रूप में ही क्यों न हो, तो उसका उन बातों में फंस जाना(पतन हो जाना)अनिवार्य है जो अनुचित(अन्याय्य) और विकार-युक्त हैं। यदि मनुष्य विचार-पूर्वक अपने पेट के लिए ही नहीं वरन् आत्मा के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करता रहे तो भोजन के प्रति उसका भाव वही होगा जो होना चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य पहले से ही अपने लिए सुस्वादु भोजन तैयार कर ले तो उसमें अनौचित्य (अन्याय) और दुराचार का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है।

विवाहित जीवन के सम्बन्ध में मैं बहुत-कुछ विचार करता रहा हूं और कर रहा हूं, और जैसा कि मेरे सम्बन्ध में हमेशा, जब कभी मैंने किसी गंभीर विषय के ऊपर विचार करना आरम्भ किया है, होता रहा है मुझे बाहर से प्रोत्साहन और सहायता मिलती रही है।

अभी परसों मुझे अमेरिका से एलिस स्टाकहम एम डी. नामक एक स्त्री चिकित्सिका (लेडी डाक्टर) द्वारा रचित "Jokolosy a book for every woman" नाम की पुस्तक प्राप्त हुई है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह पुस्तक बड़े मार्के की है और उसमें सबसे बड़े महत्त्व की जो बात है, वह यह है कि, उसमें एक अध्याय में उसी विषय का वर्णन है जिसके ऊपर हम लिख रहे हैं और उसमें इस प्रश्न का वही हल बतलाया गया है जो हम बतलाते हैं। जिस समय ग्रन्थ-

कार में पड़े हुए किसी मनुष्य को अपने निकट ही प्रकाश दिखलाई पड़ता है तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। मेरे लिए मेरी आत्म-श्लाघा में, यह कहा जाता है कि मैंने अपना जीवन पशु की भांति बिताया है, और मैं अब उसका पुनर्लाभ नहीं कर सकता—यह बड़े दुःख की बात है, क्योंकि यह कह जायगा कि "तुम्हारे जैसे एक मरणासन्न मनुष्य के लिए यह सब-कुछ कहना बिलकुल ठीक है, परन्तु तुम्हारा जीवन दूसरी तरह का रहा है जिस समय हम भी बुड्ढे होंगे हम भी यही कहेंगे।" पर मेरे पाप का प्रायश्चित्त अब इसी में हैं। एक मनुष्य समझता है कि वह ईश्वर की आज्ञा को पूर्ण करने के लिए बिलकुल अयोग्य है। परन्तु इस विचार से उसको आश्वासन मिलता है कि मैं अपने अनुभव से दूसरों को सचेत कर दूं। यदि वे भी ठीक राह पर आ जायं तो काफी है।

उन अधिकांश दुःखों का, जो स्त्रियों और पुरुषों के समागम से उत्पन्न होते हैं, कारण केवल यह है कि एक जाति वाले (स्त्री-जाति अथवा पुरुष-जाति) दूसरी जाति वालों के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ रहते हैं।

पुरुष बहुत कम इस बात को समझते हैं कि स्त्रियों के साथ बच्चों का क्या सम्बन्ध है; उनके जीवन में उनका क्या स्थान है; और इससे भी कम स्त्रियां इस बात को समझती हैं कि मनुष्य को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए क्या करना पड़ता है। उसके सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य क्या अर्थ रखते हैं।

यदि प्रश्न केवल पति के उन तमाम चिन्ताओं और कष्टों से छुटकारा पाने का है जो छोटे बच्चों की शिक्षा अथवा उनके लालन-पालन—उन्हें बिछौने पर सुलाना, उनके हाथ-मुंह शरीर और कपड़ों का धोना, उनके लिए तथा दूसरे लोगों के लिए भोजन बनाना, उनके कपड़े आदि सीना तथा ऐसे ही अन्य कामों से उत्पन्न होते हैं, तो यह बिलकुल ईसाइयत के खिलाफ़, निर्दय और अन्याय्य है।

स्त्रियों को जैसा कि इस समय है, बच्चों के लालन-पालन और भरण-पोषण में पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है, और इसलिए यह बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है कि पुरुष बाकी तमाम चिन्ताओं को अपने ऊपर ले लेवें। पर उसके लिए अपने निजी काम में कोई क्षति न पहुंचावें क्योंकि उसकी भी उस परिवार को आवश्यकता है। और इसमें सन्देह नहीं कि पुरुष इस बात को जरूर करता, यदि कार्य का सारा भार सबसे निर्बल और इसलिए सबसे अधिक वशवर्ती (आज्ञाकारी) मनुष्य के ऊपर डाल देने के इस क्रूर (असभ्य) व्यवहार ने हमारे समाज में इतनी मजबूत जड़ न पकड़ ली होती। यह व्यवहार हमारे जीवन में इतना व्याप्त हो गया है कि स्त्रियों के समानाधिकारों (समानता) को स्वीकार करते हुए भी अधिक-से-अधिक उदार-चित्त, सभ्य और शिष्ट पुरुष अपनी पूरी ताकत के साथ स्त्रियों के प्रोफेसर और पुरोहित आदि होने के अधिकार का समर्थन करेगा; अथवा वह उस रूमाल को उठाने के लिए दौड़ेगा जो किसी महिला ने गिरा दिया है, चाहे इसमें उसकी जान भी खतरे में क्यों न पड़ जाय, तथा ऐसे ही दूसरे काम भी करने में लग जायगा। परन्तु अपने बच्चे के, (जो उसकी भी वैसी ही सन्तान है जैसी कि उसकी स्त्री की) मैले कपड़े धोना, अथवा जिस समय उसकी स्त्री बीमार है, या परिश्रान्त है, अथवा दिन भर बच्चे का लालन-पालन एवं भरण-पोषण कर चुकने के पश्चात कुछ पढ़ना चाहती है या किसी विषय में कुछ सोचना चाहती है; उस समय अपने बच्चे के लिए कपड़े सीना या मोजे आदि बनाना—आदि उसके दिमाग में भी न आवेगा।

इस सम्बन्ध में लोक-मत इतना कलुषित है कि ऐसा कार्य करना हास्यास्पद समझा जायगा;और इसलिए इसके करने के लिए बहुत बड़े साहस की आवश्यकता है।

स्त्री-जाति का वास्तविक उद्धार इस बात में है कि ऐसा परिश्रम विशेषकर स्त्रियों का काम न समझा जाय जिसके छूने में स्वयं मनुष्य

लज्जा करें किन्तु पुरुष को चाहिए कि वह अपनी पूरी ताकत के साथ उसके कामों में सहायता करे, क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा उसमें शारीरिक निर्बलता अधिक है। जिस काम को पुरुष खूब कर सकता है उससे स्त्री को मुक्त कर देना चाहिए।

इसी प्रकार बालिकाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि सम्भवतः उनके भी बच्चे होंगे और इसलिए उन्हें भी कम अवकाश मिलेगा। अतः लड़कियों के लिए ऐसी पाठशालाओं की व्यवस्था करनी चाहिए जो बालकों की पाठशालाओं से अच्छी हों, जिससे वे पहले से ही उस शक्ति और उस ज्ञान का संचय कर लें जिसकी उनमें सामर्थ्य है।

प्रत्येक मनुष्य का—चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष—व्यवसाय मानव-समाज (मनुष्य-जाति) की सेवा करना है। इस व्यापक कथन से, मैं समझता हूं, सभी ऐसे मनुष्य सहमत होंगे जो दुश्चरित्र और दुराचारी नहीं हैं। इस व्यवसाय (कार्य) का संपादन करने में स्त्री और पुरुष के बीच उन साधनों के विषय में बहुत बड़ा अन्तर है जिनको वे प्रयोग में लाते हैं। पुरुष शारीरिक, मानसिक और धार्मिक कर्मों से मनुष्य-जाति की सेवा करता है। उसकी सेवा की विधियां नाना प्रकार की हैं। बच्चा जनने और उसका भरण-पोषण करने के अतिरिक्त बाकी जितने काम मनुष्य कर सकता है वे सब पुरुष की सेवा के अन्तर्गत हैं। स्त्री, जिसके लिए पुरुषों की भांति मानव-समाज की सेवा करना संभव नहीं है स्वभावतः अपनी ऐसी शारीरिक रचना के कारण वह सेवा करने के लिए उत्पन्न की गई है—उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य कर दिया गया—जो पुरुष के कार्य-क्षेत्र से बाहर है। मनुष्य समाज की सेवा स्वभावतः दो भागों में विभाजित कर दी गई है। एक तो, वर्तमान मानव-समाज के कल्याण (सुख-समृद्धि) की मात्र वृद्धि करना; दूसरा स्वयं मानव-जाति को बनाये रहना। पहला काम मुख्यशः पुरुषों का है, क्योंकि उनके लिए दूसरे प्रकार की सेवा करना संभव नहीं है।

स्त्रियों के लिए दूसरे प्रकार का काम है, क्योंकि केवल इन्हीं में इसके करने की क्षमता है। इस अन्तर को कोई भूल नहीं सकता, उसको मिटा नहीं सकता और न उसे इसको भूलना या मिटाना चाहिए। इसी अंतर से दोनों (स्त्री और पुरुष) जातियों के कर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। इस कर्त्तव्य का आविष्कार स्वयं मनुष्यों ने नहीं किया है, किंतु उसकी उत्पत्ति स्वयं प्रकृति से ही है। इसी अन्तर से स्त्री-पुरुषों के पुण्य और पाप का भी निरूपण किया जाता है। यह निर्णय है जो सभी युगों में होता आया है, और अब भी विद्यमान है, और जिसका अन्त उस समय तक न होगा जबतक मनुष्यों के पास विवेक रहेगा।

पुरुष के लिए बहुत से काम हैं, परन्तु उसके सारे प्रयत्न, सारा शारीरिक और मानसिक परिश्रम, उसका धर्म-सम्बन्धी सारा कार्य केवल उसी समय उपयोगी और सफलीभूत होंगे जब वे उस उच्चतम सत्य के नाम पर किये गये हों जिस तक उनकी पहुंच है।

यही बात स्त्रियों के व्यवसाय के सम्बन्ध में भी है। उसका बच्चों को जन्म देना, उनका लालन-पालन और भरण-पोषण करना मानव-जाति के लिए उसी समय उपयोगी सिद्ध होगा जब वह केवल अपने आनन्द के लिए बच्चे नहीं किन्तु मानव-समाज के भावी सेवक उत्पन्न करेगी; जब इन बालकों (बच्चों) को शिक्षा उस उच्चतम सत्य के नाम पर दी गई हो जिसका उसे ज्ञान है; अर्थात् जिस समय उसने अपने बच्चों को शिक्षा इसलिए दी हो कि वे जहां तक हो सके मनुष्यों से लें कम और उनको दें अधिक। एक आदर्श स्त्री, जैसी कि मेरी भावना है, वह स्त्री होगी जो उस उत्तम जीवन-सम्बन्धी भावना और विश्वास का समीकरण कर चुकने के पश्चात् जिससे वह परिचित है अपने-आपको उस मातृ-प्रवृत्ति के हवाले कर देती हैं जो अनिवार्य रूप से उसके हृदय में स्थान पाये हुए हैं; और अधिक-से-अधिक संख्या में ऐसी सन्तान उत्पन्न करती हैं, जो उसके जीवनोद्देश्य के अनुसार मनुष्य-समाज की सेवा करने योग्य हो। और इसी ढंग पर वह लालन-पालन

और भरण-पोषण भी करती है, और उनको शिक्षा देती है। जीवन-सम्बन्धी यह भावना स्त्रियों के विश्वविद्यालयों में दिखाई नहीं पड़ सकती—इसकी प्राप्ति केवल उसी समय हो सकती है जब मनुष्य उसकी ओर से अपनी आंखें और कान बन्द कर ले और अपने हृदय की विशालता और ग्रहण-शक्ति को बढ़ावे।

अच्छा तो जिनके सन्तान नहीं है, अथवा जिन्होंने विवाह नहीं किया है, उनको और विधवाओं को क्या करना चाहिए? उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों में पुरुषों का हाथ बटावें। प्रत्येक स्त्री, जिस समय कि वह अपने बच्चों के साथ अपना काम समाप्त कर चुके, यदि वह काफी मजबूत है, तो अपने पति के काम में उसकी सहायता कर सकती है, और ऐसी सहायता बड़ी मूल्यवान है।

तुम लोग, जैसा कि मैं समझता हूं, इस लोक-सिद्ध और अत्यन्त हानिकर भ्रम में पड़े हुए हो कि 'प्रणय' और प्रेम में समानता और सादृश्य है, और यह एक बड़ा अच्छा भाव है, परन्तु वास्तव में यह कुत्सित और बड़ा हानिकर भाव है और इसका परिणाम हमेशा दुःखद होता है। मनुष्य किसी धार्मिक अथवा नैतिक नियम (कानून) को न मानता हुआ उसमें निरत (आसक्त) हो सकता है, परन्तु प्रणय (आसक्ति) की न्याय्यता (न्यायानुकूलता) स्वीकार करना प्रेम को जीवन का एक नियम—कानून मानने के विरुद्ध है (अर्थात् यदि प्रणय को धर्म-संमत मान लिया जाय तो वह इस विश्वास का खण्डन करता है कि प्रेम—विशुद्ध प्रेम जीवन का एक नियम है)। प्रेम केवल उसी समय प्रेम माना जायगा जब उसमें आत्म-संयम की बात हो, आत्म-तुष्टि (अपनी इन्द्रियों आदि की तृप्ति) की अभिलाषा न हो। ऐसा प्रेम आप अपनी धर्म-पत्नी में ही पा सकते हैं; और यह भाव ही आपको सच्चा आनन्द (परम सुख) प्रदान कर सकता है। किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति ऐसे राग [अनुराग] से सिवा नैतिक पतन और

उससे होनेवाले दुःख एवं शोक के आपके हाथ कुछ न लगेगा।

मनुष्य को बुद्धि और वाणी इसलिए नहीं दी गई हैं कि वह इनकी सहायता से अपनी पाशविक इन्द्रिय-शक्ति (काम-पिपासा) को उचित सिद्ध करने के उपायों का आविष्कार करे, किन्तु वे इसलिए दी गई हैं कि उनकी सहायता से वह इस काम-वासना के साथ संग्राम करे और बुद्धि की मांग को बढ़ावे और उनका स्पष्टी-करण करते हुए उनका अनुवर्ती बन जाय अर्थात अपने-आपको उनके हवाले कर दे। बुद्धि ने बहुत समय हुआ, लोगों को यह प्रमाणित कर दिया है कि शारीरिक सम्बन्ध (सहवास) के बारे में, जिनका परिणाम सन्तान की उत्पत्ति होता है, ऐसी व्यवस्था बना लेनी चाहिए जिससे वह विपत्तियों का कारण न सिद्ध हो। ऐसे सम्बन्ध के विषय में मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है, इसकी सब से सरल और स्पष्ट परिभाषा यह है कि स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे अपने-आपको हमेशा के लिए एक-दूसरे के साथ संयुक्त समझें और कभी किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अपना रिश्ता न जोड़ें। इसी का नाम विवाह है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि जिन लोगों में यह सम्बन्ध स्थापित हो गया है, अर्थात् जिनमें समागम हो चुका है उनके लिए हर तरह की विपत्तियों का मार्ग रोका जा सके और सन्तान का पालन-पोषण भी हो सके।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य विषयाभिलाषाओं से मुक्ति पाने का अविच्छिन्न प्रयत्न करते रहना है इन्हीं प्रयत्नों में जीवन का परमानन्द है। यह परिश्रम सदैव किया जा सकता है और शरीर के ऊपर आत्मा का विजय पाना भी सदैव ही संभव है। केवल वही मनुष्य विजय पाने में असफल होता है जिसका इसमें विश्वास नहीं है। परन्तु इसमें विश्वास उत्पन्न करने के लिए मनुष्य के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि जीवन का उद्देश्य प्रयत्न (उद्योग)'करने में है और मनुष्य को इसका अनुभव अवश्य करना चाहिए।

जिस मनुष्य का पतन नहीं हुआ है, उसे चाहिए कि वह अपनी

सारी शक्ति इस बात में लगा दे कि उसका पतन न हो, क्योंकि जिस मनुष्य का पतन हो गया है, उसके लिए उस मनुष्य की अपेक्षा, जिसका पतन नहीं हुआ है, काम-शक्ति (कामाभिलाषा) के साथ संग्राम करना कहीं अधिक—सैकड़ों गुना अधिक कठिन है। परन्तु (विवाह तथा अविवाहित दोनों के लिए) संग्राम करना अर्थात् ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह) के लिए प्रयत्न करते रहना हमेशा और हर हालत में आवश्यक है। इस संग्राम की आवश्यकता में आपको संदेह है। मैं आपके सन्देह को समझता हूं, क्योंकि आपके चारों ओर ऐसे लोगों का वृन्द है जो विश्वास के साथ इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि यह संग्राम अनावश्यक और प्रकृति के विरुद्ध है।